प्रकाशकीय

महाश्रमण दीर्घ तपस्वी उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० द्वारा विभिन्न स्थानो पर दिये गये व्याख्यानों का यह संग्रह प्रस्तुत करते हुए मैं अत्यन्त प्रसन्नता एवं गौरव अनुभव कर रहा हूं। अपने दीर्घ संयमी जीवन मे उपाचार्य द्वारा सहस्रो व्याख्यान दिये गये है; जिनसे लाखों व्यक्ति प्रभावित एवं अनुप्राणित हुए है। सहस्रो को नई दिशा एवं चेतना का ज्ञान हुआ है परन्तु ये व्याख्यान वहुमूल्य निधि है तथा भावी संतति के लिये अमूल्य थाती है; इस ओर समाज के किसी भी व्यक्ति का ध्यान नही गया। परिणामस्वरूप आपके व्याख्यानोंका सग्रह एव प्रकाशन नही हो सका। यह सचमुच आश्चर्य एवं दुख का विषय है।

उपाचार्यश्री नामलिप्सा से सर्वथा दूर रहते है अतः आपकी दृष्टि सर्वदा निषेधात्मक ही रही परन्तु वह वाणी जिसमे गहन चिन्तन एवं मनन निहित हो, जो स्व-पर की कल्याणकारक हो उसे तो समाज-हित के लिये सुरक्षित रखना ही होगा। यही सोच कर प्रस्तुत व्याख्यान सग्रह प्रकाशित किया गया है। मैं प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक महोदय को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ओर प्रथम ध्यान देकर इन वहुमूल्य व्याख्यानों का संग्रह एवं सम्पादन किया। उपाचार्यश्री द्वारा दिये गये व्याख्यानों को सग्रह करने का ध्यान यदि उनके समीपवर्ती

मुनिगण रखते तो हमारे पास अद्भुत ज्ञान का भंडार होता और शायद अब तक कितने ही भाग प्रकाशित हो जाते।

प्रस्तुत व्याख्यानों मे मानव-जीवन के सभी पहलुओं एव समस्याओं पर नवीन दृष्टि से विचार किया गया है। आजके उत्पीड़ित एवं शोषित मानव को शान्ति की राह दिखाई गई है और युद्ध एवं दैन्य से संत्रस्त जगत् को शान्ति का सदेश दिया गया है। व्याख्यानों को पढ़ने से यह बात ज्ञात हो जायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक श्रीयुत शान्तिचन्द्रजी मेहता एम ए एल एल बी साहित्यरत्न एक सफल वकील, पत्रकार व कार्यकर्ता हैं। साप्ताहिक ललकार के सम्पादक है।

आपने ग्रन्थ का सम्पादन यद्यपि अपनी पूर्ण सूझबूझ तथा योग्यता से किया है फिर भी यदि कही कोई भाषा सम्बन्धी त्रुटि रह गई हो तो वह सम्पादक महोदय द्वारा सभव है उपाचार्यश्री द्वारा नही।

यदि समाज ने प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत किया तो हम अपने श्रम को सफल समझेंगे। हमे आशा है यह संग्रह आबाल वृद्ध सबके लिये उपयोगी होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना सुपरिचित पंडित मुनि श्री सुशील कुमारजी म० साहित्यरत्न शास्त्री ने हमारे अनुरोध को स्वीकार कर लिखी है; एतदर्थ हम आपके आभारी हैं।

८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता

सरदारमल कांकरिया
मंत्री,
सम्यक् ज्ञान मन्दिर

दो शब्द

विश्व के महापुरुषो से मानव जाति को वाणी की विरासत ही सर्वोत्कृष्ट मूल्यवान समृद्धि प्राप्त हुई है। यद्यपि कला, अनुभव, आविष्कार आदि अन्य भी विरासते संसार के लिये कम उपयोगी नही है, उनका भी अपने २ क्षेत्र मे विशिष्ट महत्त्व और मूल्य है, किन्तु इन सबका सम्बन्ध मानवात्मा और प्रकृति दोनो से बराबर रहा है। कलाकार की कला को भी मानव की सर्वाधिक श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है—परन्तु कला के क्षेत्र में अध्यापन का गौरव प्रकृति ने सुरक्षित रखा है। मानव समाज मे कला गुरु प्रकृति है, मानव उसका चितेरा है, शिष्य है किन्तु गुरु नही।

और ये समस्त आविष्कारो का जगत् केवल प्रकृति के प्रदत्त उपकरणों की उपयोगी साजसज्जा मात्र है। इसमे मानवात्मा का योग है अश नही।

माना कि अनुभव मनुष्य की सबसे बडी थाती है किन्तु अपने लिये वाणी का सहारा लिये विना अनुभव गूंगे का गुड है, जनता का आस्वाद नही। सत्य की शोध मे आत्मा का सत्य सम्वेदन ही अनुभव कहा जा सकता है किन्तु अनुभव, कला, समृद्धि और आविष्कार सभी से बढ़कर आत्म-मंथन से उद्भूत वाणी है जो महामानव द्वारा समाज को वरदान रूप मे

प्राप्त होती है। मुंह वाया और राग आया की तरह वाणी को गुनगुनाना या चुलबुलाना नहीं कहा जा सकता। वाणी का महात्म्य वाणी के शाश्वत सत्य अभिव्यञ्जन, हित-मित तथा पथ-प्रदर्शन मे छुपा हुआ है। इसीलिये साधारण मानव की वाणी से सन्तों की वाणी मे चमत्कार रहता है और प्रस्तुत संग्रह तो संतों के शासक, सफल नायक उपाचार्यश्री जी महाराज की वाणी का है अत: इसका मूल्य हमारे लिये अधिक होगा इसमे जरा भी सन्देह नही है।

वाणी वह विरासत है जो देकर ली नही जा सकती—परिवर्तित नहीं की जा सकती। कितनी महत्त्वपूर्ण है वाणी की विरासत। सचमुच वाणी आत्मा का संगीत है, समूचे ससार पर वाणी की अक्षौहिणी सेना का प्रभुत्त्व रहा है। उत्थान और पतन के पहिये को वाणी गति देती आई है। युद्ध और शान्ति के लिये वाणी ही विष के ववण्डर और अमृत के मेघ उमडाती रही है। यही वाणी है जिसके पीछे आस्रव और सवर की समस्त प्रमत्त और अप्रमत्त भावनाएं चिपकी रही है। उसी वाणी का सग्रह कांकरिया जी की ओर से भेट किया जा रहा है और यह और भी आनन्द को बात है।

इस संग्रह मे तीन विशेषताए हैं। पहली विशेषता इसकी यह है कि—

समस्त व्याख्यान—भूत के अनुभव, भविष्य के उजले स्वप्न और वर्तमान की कठोर उलझी समस्याओ के समाधान से

भरपूर है। कही भी ग्राह्य त्याज्य नही, अनुपयोगी गृहीत नहीं है। ठीक व्यक्ति से समष्टि तक, सामाजिकता से आध्यात्मिकता तक और लोक से परलोक तक के समूचे प्रश्नो का उत्तर पाठक को आनन्द के साथ मिलेगा। इतना ही नही साथ मे ' सत्पुरुषार्थ करो उठो" द्वारा योगीराज कृष्ण के उन प्रेरणा भरे सन्देशो का उद्बोधन भी मिलेगा, जो पार्थ के प्रति सीधा सम्बन्ध जोडते हुए आजके इस आधिभौतिक पाश से प्रपीड़ित मानव जाति को नई चेतना देने मे सामर्थ्य रखता है। गीता के शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है—

"क्लैब्य मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वयि-उपपद्यते"—नपुंसकता को छोड कर परम पुरुषार्थ की सीढी पर चढ़ जावो अर्जुन! तुम्हारे जैसे बहादुर कर्मवीरों के लिये इस तरह उदासीन होना उचित नही लगता।

"दु ख मत दो दु.ख नही होंगे", "शोषण का मूल", भगवान् महावीर के दिव्य सन्देशों का दोहन है।

"मानव समाज मे नारी" लक्ष २ वर्षों से दास, पराजित नारी के अन्तस्तल में छुपे हुये तीर्थङ्करत्व का अभिव्यञ्जन है। पराधीन नारी के लिये आश्वासन और फैशन परस्त तितली नारी के लिये लक्ष्योद्बोधन तथा असहाय अबला के लिये संबल प्रदान किया गया है।

दूसरी विशेपता—इस संग्रह की यह रही है कि जैनागमों के विशिष्ट दृष्टिकोणों को सर्वत्र विशालता के साथ प्रतिपादित

किया है, और साथ मे वक्ता की निश्चित निष्ठा की विराट् व्यापकता धर्म के क्षेत्र मे आई साम्प्रदायिक शैवाल से सर्वथा विमुक्त रही है। धर्म और राष्ट्र दोनों कन्धे से कन्धा मिलाये जैसे नवयुग का पथ प्रशस्त कर रहे हों। मानों इस मंगल वेला मे भगवान् महावीर, बुद्ध तथा कृष्ण जैसे युग और धर्म में सामञ्जस्य स्थापित कर रहे हों।

आचारांग गीता तथा धम्मपद जैसे मिल कर संयुक्त प्लेट-फार्म से स्याद्वाद और अहिसा का नवयुग निर्माण कर रहे हों। मुझे कितने ही अंशों मे तो सत्य की गहराई की पराकाष्ठा, भगवान् महावीर से लेकर गाधी तक के समस्त युगो के मन्थन का आलोक दिखाई दिया है। जीवन का सत्त्व, धर्म का मर्म, साहित्य का निचोड, कर्म का उद्देश्य, मनुष्य की सिद्धि, और तत्त्व का चिन्तन सभी कुछ मुझे इसमे प्राप्त हुआ है।

तीसरी विशेषता इस पुस्तक की यह है कि इसमे वक्ता और भाव अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और विशेषता से अनोखे रूप में विभिन्न और ऐक्य के समन्वय से सामने आये है।

वक्ता है जैन साधु, स्थानक वासी सम्प्रदाय, श्रमण संघीय, उसके भी निर्माता और आज है आप वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के उपाचार्य।

चारित्र की मंजिलों पर चढ़ने वाली साधु समुदाय के आप सफल शासक हैं। अक्षर और अङ्क दोनो के ही आप पारखी हैं। महाराणा प्रताप की जन्मभूमि उदयपुर मे आपका केवल जन्म

ही नहीं हुआ अपितु आपके संस्कारो मे वीरता, आचार मे दृढता एवं धर्म मे अटूट निष्ठा का भी संचार हुआ है। धर्म के क्षेत्र मे महाराणा प्रताप की तरह धर्म की विकृत रूढि तथा अधर्म से लोहा लेनेवाले आज हमारे समाज मे श्रमणसंघ मे सर्वाधिक श्रेष्ठ लोहवीर आप ही है। कहने का आशय केवल इतना ही है कि वक्ता का विशिष्ट आचार, अटूट निष्ठा तथा ज्वलन्त व्यक्तित्व कथनी और करनी की एकता का सबूत दे दे रहा है। तपे तपाये कर्मठ नेता, श्रमण संघ के उपाध्यक्ष की वाणी का अनमोल संग्रह समाज के उन सभी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो को विशुद्ध बनाने का उपक्रम करेगा जिसपर आध्यात्मिक का विश्व महल बनने जा रहा है। अहिसा और स्याद्वाद के प्रसार मे योगदान के लिये इस संग्रह का समादर होगा इसका मुझे पूर्ण भरोसा है और साथ मे अन्य मुनिवरों का पथ-प्रशस्तीकरण भी जो व्याख्यान जगत् की ओर अग्रसर हो रहे है, क्योंकि इन १५ प्रवचनों में व्याख्यान-दाताओं के लिये विपुल सामग्री है और उन पाठकों के लिये भी जो जैन-धर्म के साथ २ स्थानकवासी सम्प्रदाय की धार्मिक मान्यताओं का भी ज्ञान करना चाहते है। संभव है किसी भाई को कही कही पर मतभेद भी है। किन्तु अपनी धार्मिक मान्यताओं के क्षेत्र मे अपने मन्तव्य प्रतिपादन का प्रत्येक वक्ता को स्वतः अधिकार रहता है। और फिर भी समालोचना के क्षेत्र मे तो इस पुस्तक के भी गुण दोषों का अपनी २ दृष्टि अनुसार अन्वेषण

किया जा सकता है किन्तु मेरा तो पाठकों को प्रवचन जानने से पहले विषय, भाव व वक्ता के प्रति परिचय मात्र देना है।

आशा है इस संग्रह का आध्यात्मिक जगत् मे ससम्मान वाचन बढ़ेगा—जिससे हम उपाचार्य जैसे महापुरुषो की अमर-वाणी का अधिक योग्यता के साथ प्रसार कर सके।

समस्त जगत् का कल्याण हो इसी भावना के साथ।

तारानगर (राजस्थान) १०-१२-५६ } मुनि सुशील

: १ :

पूर्ण स्वतंत्रता की राह

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी,
धननामी परनामी रे ....

स्वतंत्रता ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जो स्वतंत्र हो जाता है, वही विजेता है, क्योंकि विजय का परिणाम ही स्वतंत्रता के रूप मे प्रकट होता है और जहा विजय है, वहाँ पराजितों का झुकना और वैभव-सम्पन्नता अवश्यम्भावी है। इसीलिये कवि विनयचंद जी भगवान् वासुपूज्य को 'परनामी'— दूसरो को झुकाने वाले तथा 'धननामी'— वैभव सम्पन्न बतलाते है। जो परनामी और धननामी है उनमे त्रिभुवन का स्वामित्व तो सहज ही मे स्थापित हो जाता है। परन्तु इस स्वतंत्रता और विजय का कुछ और ही रहस्य है।

आज 'स्वतंत्रता' शब्द का हमने बहुत ही संकुचित अर्थ मान रखा है। राजनैतिक वा आर्थिक स्वतंत्रताएँ भी समभाव के साधन रूप मे है तो स्वतंत्रता के ही रूप में हो सकती है

परन्तु हैं प्राथमिक रूप। सच्ची स्वतंत्रता की मंजिल तो इनसे बहुत दूर है और उसकी तरफ बढ़ने वाला मार्ग का पथ अधिकाधिक दुरूह भी होता जाता है। स्वतन्त्रता की पूर्णोज्ज्वल ज्योति जहाँ चमकती है, वह स्थान है आत्मिक स्वतंत्रता का। जब तक मनुष्य निज की मनोवृत्तियों को नहीं समझ पाता और उनकी सही प्रगति-दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता, दासता की काली छाया उस पर से हट नहीं सकती। वह अपनी इच्छाओं का गुलाम रहेगा और तृष्णा के अनन्त रूपों का भारी दबाव उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास किसी भी दिशा में नहीं होने देगा। जहा इच्छा और इन्द्रियों की दासता है, वहाँ आत्मा का पतन है और आत्मा के गिरने पर कभी भी सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

इतिहास के पृष्ठ सिद्ध करते हैं कि स्वतंत्रता के अन्य रूपों की प्राप्ति-हित भी सदैव जटिल संघर्ष करने पड़े हैं, परन्तु यह और भी सत्य है कि आत्मिक स्वतंत्रता के लिये तो ये संघर्ष जटिलतम हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा के अपने शत्रुओं से लड़ना, अपनी वासनाओं और अपने ही विकारों की जड़ें उखाड़ना सरल कार्य नहीं है। बाहरी शत्रुओं से लड़ना और उनके समक्ष वीरता दिखाना, इस लड़ाई के सामने न्यूनतम महत्त्व रखते हैं। भीषण संकटों का सामना कर लाखों की सेना को परास्त करने वाले सेनापति चंचल नारी के एक ही कटाक्ष से पराजित होते देखे गये हैं और लोभ

एव लालसा के पीछे तो आज व्यापक रूप से अणगणित पागल देखे जा सकते है, जिन्होंने कभी विदेशी शासन से कठोर टक्कर ली थी। तात्पर्य यह है कि आन्तरिक वृत्तियो को नियन्त्रित करना ही जीवन की महान् विजय है।

पूर्ण स्वतंत्रता की राह पर आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुख और दु ख के रहस्य को समझे। यह सुनिश्चित तथ्य है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दु ख से व्याकुल होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी अपने समस्त प्रयासो को भी इसी दिशा मे नियोजित करना चाहता है कि उसे उनसे सुख ही सुख प्राप्त हो। परन्तु फिर भी यदि हम चारो ओर दृष्टिपात करे तो विदित होगा कि संसार के बहुसंख्यक प्राणी दु खी है। अत जब भी विचार करे, यही सनातन प्रश्न मुँह बाये सामने खड़ा रहता है कि संसार मे इतना दु:ख क्यो है ?

धार्मिक दृष्टिकोण से सुख और दुःख आत्मा की क्रिया के ही प्रतिफल है। सुख और दु ख का निर्माता परमात्मा नही है—यह जैनधर्म का मत है। आत्मा अपनी नियति का स्वयं ही विधाता है। 'ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिलता'—यह विचार सर्वथा अनुपयुक्त है। आत्मा स्वयं ही कर्त्ता व भोक्ता है। इसके सिवाय सुख और दु ख के अनुभव मे मनुष्य को ज्ञानवान् व चेतनाशील होना चाहिये। विवेकशील व्यक्ति सुख और दुःख दोनों मे तटस्थ वृत्ति रखते है क्योंकि वे

जानते है कि शुभ कर्मों के उदय से सुख और अशुभ कर्मों के उदय से दु ख प्राप्त होता है तथा कर्मबन्धन का कारण उसका ही निज का आत्मा है, अत निज के किये हुए कार्यों का फल शान्त भाव से ही सहन करना चाहिये। यह विचारणा ही मनुष्य के जीवन को सन्तुलित बनाये रख सकती है, अन्यथा जीवन अत्यन्त ही विशृंखल व विषम अवस्था वाला हो जायगा। इस तटस्थ वृत्ति के अभाव मे ही सुख मे तो मनुष्य इतना मतवाला हो जाता है कि उसे हिताहित का ही भान नही रहता। वह यह सब कुछ भूल जाता है कि इस क्षणिक सुखानु-भव के पश्चात् क्या दु ख के पहाड टूटने वाले है ? सुख मे इस विस्मृति के कारण मनुष्य नये २ दुष्कर्म करता है और भविष्य के लिये दु.खो का भारी बोझ इकट्ठा कर लेता है। इसी तरह दु.ख की अनुभूति मे भी व्याकुलता उत्पन्न करके वह हिसा, प्रतिशोध आदि विभावो के कारण और अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है। अत सुख और दु ख दोनो मे समान विचारणा ही मनुष्य के जीवन को सच्चे अर्थ मे सुखी बना सकती है। जैसे नाटक के रंगमंच पर अभिनय करने वाला व्यक्ति न तो राजा का अभिनय करने पर अपने आपको सुखी मान लेता है, न भिखमगे का अभिनय करने पर दु खी। वह तो समझता है कि अभिनय का सुख या दु ख केवल क्षणिक व काल्पनिक मात्र है। दर्शक पर भी कुछ ऐसा ही प्रभाव पडता है। उसी तरह हम भी यह समझे कि ससार के इस रगमच पर सुख

और दुःख की एक माया सी फैली हुई है। सुख के पश्चात् दुःख और दु ख के पश्चात सुख—यह चक्र निरन्तर घूमता ही रहता है।

सुख और दुःख का अनुभव विशेषरूप से मनुष्य के हृदय-निर्माण पर निर्भर करता है। दुःख मे मनुष्य यदि सही रूप से सोचे तो विशेप ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किसी कवि ने कहा भी है—

दु ख है ज्ञान की खान.... .मानव !

शान्त वुद्धि और दृढ़ भावना के आधार पर दुःख से नई २ शिक्षाएं मिलती है और यहा तक कि वे शिक्षाएं इतनी अमिट रूप से अकित हो जाती है कि भावी जीवन के विकास हित वे वरदान रूप सिद्ध होती है। अधिकांशत· सुख और दुःख की अनुभूतियां चित्त के विशिष्ट मनोभावों के कारण ही होती है। एक गरीव यह सोच कर मन मे दुःखी होने लगा कि उसका वच्चा मिठाई के लिये रो रहा है, परन्तु उसके पास उतने पैसे नही है। हलवाइयों के यहां पचासो तरह की स्वादिष्ट से स्वादिष्ट मिठाइयाँ रखी है और पैसे वाले खूव खरीदते है एवं मजे उड़ाते है, किन्तु उसका वच्चा एक पेड़े के लिये भी तरस रहा है। वह दु खी होता है और एक पैसे की गाजर खरीद कर वच्चे को खिलाना चाहता है। वह गाजर के छिलके उतार कर फेकता है, उसी समय एक भिखमंगी आकर वे छिलके अपने वच्चे को खिलाने लगती है। उस समय उस गरीव की

अनुभूति बदल जाती है कि उसके बच्चे की हालत किसी और के बच्चे की हालत से बेहतर है और वह सुख मानने लगता है। जो स्थिति एक क्षण पूर्व दु ख का कारण बनी हुई थी, वही दूसरे क्षण केवल मनोभावो के परिवर्तन से सुख रूप बन गई। एक ही स्थिति या वस्तु मे सुख या दु ख का अनुभव किया जा सकता है। यह तो अनुभव करने वाले पर निर्भर है कि वह चित्त को किस प्रकार सन्तुलित रखता है?

इस सिलसिले मे आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दु ख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एवं जब आत्मानन्द का संचार होता है, तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है। भक्त तुकाराम का चरित्र इसी सत्य की साक्षी देता है कि किस प्रकार उन्होने अपनी कर्कशा पत्नी के प्रत्येक व्यवहार को शिक्षा रूप लेकर मन मे कभी क्रोध या ग्लानि की एक झलक भी नही आने दी? वे सदैव अपनी पत्नी की अज्ञानता का ही दोष समझ कर उसके प्रत्येक कटु शब्द पर मुस्करा उठते और अपने हृदय मे आत्मानन्द का सचार किसी दृष्टि से एक ही स्थायी प्रवाह मे बनाये रखते।

एक दिन प्रात भक्त तुकाराम ज्यो ही भोजनार्थ अपने आसन पर बैठे। ईश्वर-भजन कर अपने नित्य नियमानुसार अतिथि की प्रतीक्षा मे थोड़ी देर बैठ कर भोजन प्रारम्भ करने वाले थे ही कि उनकी हृदय की कोमल व आग्रहभरी इच्छा के

अनुसार एक भिक्षुक आ पहुंचा। भक्त का हृदय हर्षित हो उठा। उन्होने अपनी रोटी जाकर भिक्षुक को दे दी। यही तो भक्तो की महानता होती है कि स्वयं भूखे रह जाते है किन्तु अभ्यागत का पहले स्वागत करते है। मनुष्यता भी इसी मे है कि अपने दुःखो को भूल कर भी पर-दुःख-निवारण के लिये पहले प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकता पूर्ति के साधनो से पहले दूसरो की कठिन आवश्यकताओं को पूरा करने मे सद्भावना-पूर्वक सहयोग दे। भक्त भी मनुष्यता के उच्च धरातल पर स्थित थे। आज के कहलाने वाले भक्तो की तरह आडम्बर मात्र दिखलाने वाले नही थे। आज के भक्त ऐश्वर्यमे मदमाते बने अपने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के दर्द को तो समझते ही नही, न दान देने की भावना जागृत होती है और यदि कही वे दान देते भी है तो उसमे अपने स्वार्थ की मैली भावना ही भरी रहती है। इसी प्रकार कोई २ साधु भी ऐसे मिलेगे जो दान के सर्व-सम्मत सिद्धान्त को अपने सीमित स्वार्थों की इच्छा से उठाने का दुष्प्रयत्न करते है कि उनके सिवाय संसार के अन्य सभी प्राणी कुपात्र है और उन्हे दान देना अधर्म का कार्य करना है। तात्पर्य्य यह है कि आज के कुत्सित हृदय और भक्त तुकाराम के हृदय मे कितना भारी अन्तर दिखाई देता है? भक्त का मन और मस्तिष्क तो इस विष से रहित था। वह तो अपने खाने के भोजन का दान करके भी अति प्रसन्न हुआ था। परन्तु उनकी पत्नी कर्कशा जो थी। यह सब कुछ देखते ही वह क्रोध

से तमतमा उठी। उसने कटु शब्दो की बौछार ही शुरू कर दी—मैंने बचे आटे की घी डाल कर एक ही रोटी बनाई थी, मैंने भी न खाकर उसे तुम्हारे लिये रखी, सो तुमने मेरी भी परवाह न करके उसे एक भिखारी को ही दे दी। इन गालियो पर भक्त हस पड़े और बोले—"उस रोटी को मैंने भिखारी को देकर कितना अच्छा किया? क्योंकि तुम तो उस रोटी को मेरे लिये रख कर त्यागियो की श्रेणी मे आ गई, किन्तु मै तो नीचा ही रह जाता, परन्तु अब तो हम दोनो साथ आ गये है। अब तुम्ही कहो—मेरे तुम्हारे साथ आने पर तो तुम्हे खुश होना ही चाहिये।" यह था भक्त का वह मृदुल स्वभाव कि कठोर व्यवहार को भी सरलता से लेकर उसकी कठोरता को ही समाप्त कर देना।

इसी प्रकार एक दिन भक्त तुकाराम जब हाथ मे एक साठा लेकर अपने घर पहुंचे तो उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—देखो, किसानो का स्वभाव कितना स्नेहवाला होता है। वह बेचारा साठो का एक पूरा गट्टर और घड़ा भर रस देने लगा, बहुत आग्रह किया तो उसका मन रखने के लिये मैं यह एक साठा ले आया हू। तुम भी प्रेममय हृदय रखो तो सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकती हो। भक्त ने तो देखा कि शायद यह उदाहरण उस पर कुछ असर करेगा, परन्तु उनकी पत्नी तो बुरी तरह झल्ला उठी—कैसे मूर्ख हो तुम, बेचारा सब कुछ दे रहा था और तुम लाये केवल एक साठा! अक्ल का दिवाला तो इसीको

कहते है: जब कि घर मे खाने वाले भी तीन है। भक्त यह सुन कर मुस्कराने लगे। उनको फिर भी इस तरह मुस्कराते देखकर उसका गुस्सा और अधिक बढ गया और उसने उसी साठे की भक्त के जोरो से दे मारी। चोटसे साठा टूट गया और दैव-योग से उसके तीन टुकड़े हो गये। ऐसे समय किसीको भी क्रोध आ जायगा परन्तु भक्त पत्नी के हाथ की इस मार के बावजूद भी बोले—देखो, तुम कितनी बुद्धि वाली हो, आवश्य-कता के अनुसार ही तुमने सांठे के टुकड़े कर लिये इतना कह वे, हंस पड़े। यह थी उस भक्त की सहनशीलता और क्षमता की अनुपम शक्ति। यही शक्ति मनुष्य को कैसी भी दशा मे दु ख के भार से बचा सकती है। मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति को भी अपने विचारो मे अनुकूल समझ ले तो उस प्रतिकूल परि-स्थिति मे भी उसे आनन्द ही मिलता है। जहर को अमृत कर लेता है।

मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि यदि हमे पूर्ण स्वतंत्र बनना है, पूर्ण आनन्दमय बनना है और पूर्ण विजेता कहलाना है तो दुख और सुख के इस रहस्य को अमल मे लाना होगा। पहले, दु'ख और सुख दोनो के निर्माता हम स्वयं है. इसलिये न घबराना चाहिये, न फूल उठना। दूसरे, दु.ख और सुख का अनुभव किसी वस्तु विशेष वा परिस्थिति विशेष मे निहित नहीं, अपितु वह तो अपने निज के विचारो मे ही रहा हुआ है। 'मन माने तो सुख है अरु मन माने तो दु'ख'—का सिद्धान्त भी

जीवन मे हम अक्सर घटित होता हुआ पाते हैं। अतः दुःख और सुख मे तटस्थ वृत्ति रखने के लिये हमे हमारे विचारो को सन्तुलित बनाना चाहिये कि दुःख और सुख की छिछली अनुभूतियो से ऊपर उठ कर ही सदैव सुख ही सुख देने वाले आत्मानन्द का गहरा अनुभव करे।

तीसरे, किसमे सुख है और किसमे दुःख—यह समझने मे भी मनुष्य बड़ी भूल करता है। सुख और दुःख का अनुमान लगाने का मापदंड यह है कि जिस कार्य मे सुख ही सुख मिले, समय और स्थिति के परिवर्तन पर भी दुःख का लेश मात्र भी न आवे, उस कार्य को सुख प्रदायक मानना चाहिये, अन्यथा ऐसे कार्यों मे, जिनमे पहले तो सुखाभास होता है किन्तु उनके करते रहने पर वह आभास लुप्त हो जाता है, सच्चे सुख का निवास नहीं है। सांसारिक भोगोपभोग, जिन्हे हम सुखकारी मानते हैं इसी दूसरी श्रेणी मे आते हैं। इन भोगोपभोगो को क्षणिक भी इसीलिये कहा गया है कि क्षण मात्र सुखाभास देने के पश्चात् ये शाश्वत दुःख के कारण बन जाते हैं और क्षण मात्र भी जो अनुभूति होती है, वह सच्ची नहीं, वरन सुखाभास मात्र होती है क्योकि बाह्यानन्द अन्तर को प्रफुल्लित नहीं करता। आप हलुआ खा रहे हैं, आपको खुशी होती है किन्तु वह खुशी का दौर गहरे तक नहीं पहुंचता और यदि आप रुचि से अधिक खाते जावे तो वही हलुआ बिमारी और तकलीफ का कारण बन जावेगा। परन्तु इसके विपरीत कुछ

ऐसे कार्य होते है, जिनके एक बार करने मे सच्चा सुख मिलता है और यदि उन्हे निरन्तर करते जायं तो उनसे सुख का एक ऐसा प्रवाह बन जाता है. जो कभी टूटता ही नहीं और वही प्रवाह स्थायित्व ग्रहण कर आत्मानन्द के सागर मे परि-वर्तित हो जाता है। किसी दु:खी को आप सहानुभूति से सहा-यता पहुचाते है आपको सुख की एक ऐसी अनुभूति होती है, जो बाहर प्रकट न भी हो, किन्तु अन्दर ही अन्दर छा जाती है और यदि ऐसे ही परोपकार के कार्य मे हम पूरी तरह से लग जावे तो वह अनुभूति ही निजानन्द रूप बन जायगी। फिर खुशी का खजाना अन्दर ही खुल जायगा, दु ख जैसा तत्त्व तो कही रहेगा ही नही। यही अन्तर होता है—दु ख और सुख के अनुभव मे और दोनो को पचा कर आत्मानन्द मे परिणित कर देने मे।

इस प्रकार हम देखते है कि जब आत्मा सदैव आनन्द आनन्द मे ही रमण करेगी तो उसमे अपने विकारों, अपनी वासनाओ से लड़ने की एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जायगी और उस शक्ति के सहारे ही आत्मा के शत्रुओ को झुका दिया जा सकेगा। 'परनामी' का यही अर्थ है और परनामी बनने पर दासता की काली छाया हटेगी तथा मानस मे पूर्ण स्वतंत्रता का प्रकाश फैलेगा। यही प्रकाश विजेता का साम्राज्य होता है और वही प्रकाश उसकी वैभव सम्पन्नता है, जो उसे त्रिभुवन का स्वामित्व प्रदान करता है।

बन्धुओं! इसी प्रकाश को पाने के लिये हमे सुख और दु ख के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने जीवन पथ का निर्माण करना चाहिये।

लाल भवन, जयपुर,] [ता० ३०-६-४६

: २ :

शोषण का मूल

कुन्थू जिनराज तू ऐसो,
नही कोई देव तुझ जैसो........

प्रभु की प्रार्थना जीवन-गति मे बल और विनम्रता का एक साथ सञ्चार करती है। अपनी शक्तियोंके अभिमानमें मत्त मनुष्य को यह नम्र बनाती है कि तुझसे तो प्रभु सर्वशक्तिमान् है—तेरा अभिमान वृथा है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रार्थना का प्रभाव यह है कि उन मनुष्यों के लिये, जो कुचले जा रहे है, जिन्हें नीचे गिराया जा रहा है, चूसा जा रहा है और जिनके खून पर कुछ राक्षस रूप व्यक्ति अपनी चांदी बना रहे हो एवं जिनका कोई सहारा न हो, प्रभु की प्रार्थना एक वरदान बन जाती है, क्योंकि जीवन मे आश्रय का; वह भी प्रभु के महान् आश्रय का आश्वासन उनके हृदय मे अद्भुत साहस-संचय कर देता है और वे उठ खड़े होते है—समाज के उस भीषण अन्याय का मुकाबिला करने के लिये। यही प्रभु की प्रार्थना

का विचित्र रहस्य है। इसीलिये कवि भगवान् कुन्थनाथ से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! तुम्हारा आश्रय ऐसा है कि मुझे किसी अन्य के पास जाने की इच्छा ही नहीं होती। मेरी बाह पकड़ कर मेरा उद्धार करो! अतः, जैसा मैंने ऊपर कहा है, शोषित, दलित और पतित मानवों के लिये आज प्रभु की प्रार्थना इसलिये विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें अपने अन्यायमय जीवन की समाप्ति कर मानवता के उच्चस्तर तक पहुंचना है, समानता की श्रेणी में आकर अपना जीवन विकास करना है, इसके लिये प्रभु से ही साहस और शक्ति की माग करनी चाहिये क्योंकि प्रभु का आश्रय उनके लिये अन्य किसी आश्रय से महान होगा। इसका कारण यह है कि उनकी प्रार्थना स्वार्थपूर्ण नहीं है, वे तो सामाजिक शोषण समाप्ति के साथ साथ मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। वे कहलाने वाले भक्त तो भगवान के सामने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हित हाथ फैलाते हैं, उनको प्रार्थना करने का एक दृष्टि से अधिकार ही नहीं है। वे प्रार्थना करने के लिये हर दृष्टि से अयोग्य हैं, क्योंकि वे प्रभु की प्रार्थना की आड़ में अपना स्वार्थ साधन करके अपने आत्मा और संसार के साथ विश्वासघात करते हैं। प्रार्थना की सच्ची भावना के अभाव में ही आज हम प्रार्थना के [illegible] को भूल गये हैं। प्रार्थना के लिये आत्म-समर्पण [illegible] हुआ नहीं। जब प्रार्थना के लिये हाथ फैलाया, [illegible] उसका अन्तरङ्ग नष्ट हो गया। मैं इतना यह चाहता हूं कि आज

जो शोषित है, वे शोषण के मूल कारण को समझ कर प्रभु का आश्रय प्राप्त करे और एक निश्चित विश्वास एवं दृढ़ आशा का वलिदान लेकर अपने आपकी कमजोरियो तथा शोषण के कारणो से जूझ पड़े तो इसमे कोई सन्देह नहीं कि अन्त मे विजय उनकी होगी। जो शुद्ध ध्येय के लिये लड़ रहा है और जिसने प्रभु का महान् आश्रय प्राप्त कर लिया है, विजय उसके सिवाय अन्य किसकी हो सकती है ?

आज का युग अर्थयुग कहलाता है। अर्थ—यह मानवीय और जागतिक जीवन का केन्द्र विन्दु वना हुआ है। मानवता और ससार के सभी उच्च सिद्धान्त व विचार-धाराएं इसके निर्दय शोषण चक्र मे पीसी जा रही है और यदि यही अर्थ-राज इसी तरह चलता रहा तो अवश्य ही एक दिन मानव संस्कृतियाँ और सभ्यताएं चूर २ होकर विनाश के गहरे गर्त में सदैव के लिये डूव सकती है। आज व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे यही आग धू-धू करके जल रही है। यह आग मानवता की भूखी आग है, जिसकी जलन धर्म और सद्भावनाओं के धरातल को तोड़ देगी। आज सभी मानवता के रक्षक प्रगतिवादी विचारको का एक कर्तव्य है कि विश्व-शान्ति और मानवशान्ति को इस भयावह अग्नि से वचाने के लिये वे भरसक सद्प्रयत्न करे और इस कार्य मे वे अपना जीवन अर्पण कर दे तथा शोपितो, दलितों और पीड़ितों के हृदय मे एक ऐसी नव चेतना और आत्म-जागरण की भावना

भर दें कि वे स्वयं ही उठ खड़े हों और इस स्थिति का कठोर विरोध करें, जिनकी हड्डियों के ढेर पर अर्थयुग के ये सब क्रूर खेल खेले जा रहे हैं। शोषितों का महान् आत्मबल ही आने-वाली महान् विपत्ति से समग्र मानवता की रक्षा कर सकता है।

इससे पहिले कि शोषण-विरोध के साधनों पर विचार किया जाय, शोषण के मूल कारणों पर दृष्टिपात कर लेना अधिक आवश्यक है।

मेरा तो स्पष्ट यह मत है कि मनुष्य को सदैव अपनी ओर ही देखना चाहिये। यह प्रणाली दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम किसी भी स्थिति के अस्तित्व का दोषारोपण दूसरों पर करें। आज शोषित वर्ग शोषण का मूल पूंजीपतियों में स्थापित करता है और इसका परिणाम यह होता है कि वे प्रतिहिंसा से आहत होकर उनके विरोध में हिंसक प्रवृत्तियों की ओर अपने आपको झुकाते हैं और इससे कार्य बनने की अपेक्षा कार्य-शक्ति का विनाश ही अधिक होता है। यदि शोषित वर्ग शोषण के मूल कारणों का आरोपण अपने ऊपर ही कर ले कि उनकी स्वयं की कमजोरियां हैं, जो उन्हें नीचे गिरने को विवश करती हैं तो उनको उत्साह और आशा का एक प्रकाश मिलेगा, जिसके सहारे वे अपने अन्याय और शोषण का ऐसा शान्त, पर तीव्र विरोध कर सकेंगे कि वे अपने उद्देश्य में सफल होकर ही रहेंगे। इस तत्त्व पर कि—

'आत्मा ही करने वाला है और आत्मा ही भोगने वाला है' गंभीरता से मनन किया जाय तो विदित होगा कि शोषित लोग अपने आपको कितना अधिक चेतनाशील बना सकते है। गीता में भी यही कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्—

हे अर्जुन! मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी आत्मशक्तिको ही प्रज्वलित करे, अपने आपको अधिकाधिक शिथिल न बनाता जावे. क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात् अपने उत्थान-पतन का कारण अपना ही आत्मा है। यह सन्देश आज कितनी प्रेरणा देता हुआ प्रतीत होता है। जहां हम आत्म-शक्ति की आलोचना और दृढ़ता पर डट जाते है, तब हमारे अन्दर एक विशेष प्रकार का तेज उद्भूत होता है और उस तेज के समक्ष अन्याय की बुनियाद पर टिकी हुई दुनिया की कोई शक्ति ठहर नहीं सकती।

इसके साथ ही यह भी समझ लेनेकी आवश्यकता है कि प्रभु की प्रार्थना आत्मार्पण भाव से की जाय, न कि केवल स्वार्थ पूर्ति की क्षुद्र अभिवांछा से। इसलिये कर्म आदि करने में ईश्वर को कारण रूप मानना मूर्खता है। इससे अपने अन्दर एक अकर्मण्यता का भाव उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को अपनी

आत्मिक शक्तियों की पहिचान नहीं करने देता। गीता मे भी इसी सम्बन्ध मे कहा गया है —

न कर्त्तृत्वं न च कर्माणि, न लोक सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं, स्वभावास्तु प्रवर्तते॥

भाव यह है कि स्वभाव ही मनुष्य को कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त करता है। अन्य कोई कारण नहीं है, जो मनुष्य को चेतनाशील बना सके। अत शोषण का मूल उसी तथ्य में रहा हुआ है कि आत्मशक्ति के गंभीर रहस्य को हम नहीं समझ पाये है। शोषण-शोषण चिल्लाते है, परन्तु यह कीली कहांसे घूमती है—इसे लोग नहीं जानते। जहाँ आत्म-शक्ति की दृढ़ता है, वहां शोषण प्रारम्भ ही नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति अन्याय का कठिन प्रतिरोध करेगा और उसे समाप्त करके ही विश्राम लेगा। इसके लिये यह सत्य स्पष्ट होता है—अन्याय को चुपचाप वही सहता है जिसका आत्मा मरा हुआ होता है। आत्म-शक्ति के जागरण मे अन्याय का अधकार टिक नहीं सकता। मौजूदा शोषण का भी इसी तरह विरोध किया जा सकता है।

अत शोषण-विरोध के किन्हीं साधनों का आश्रय लेने से पहिले यह सोच लिया जाय कि शोषण का मूल कारण शोषितो की मरी हुई आत्माए है और जब तक उनमे जीवन नहीं डाला जायगा शोषण का स्थायी अन्त कदापि नहीं हो सकता। यदि हिंसात्मक साधनों या अन्य किन्ही भौतिक व अशुद्ध साधनों से शोषण को समाप्त करने की चेष्टा की गई

ता हानि के अतिरिक्त उसमे कुछ भी प्राप्त नही होगा; क्योंकि यह खतरेभरा रास्ता है। और माना कि इससे एक बार सफलता भी मिल गई, फिर भी शोषण किसी न किसी दूसरे रूप मे आकर अपना वैसा ही आधिपत्य जमा लेगा। आज अज्ञान मजदूर और किसानो को यदि पूंजीपति चूसते है तो कल उसी अज्ञानता के आधार पर बुद्धिपति चूसेगे। बहरहाल जब तक आत्मा की सुप्तावस्था है, चूसना (शोषण) बराबर जारी रहेगा। इसलिये आज शोषित वर्ग की बुद्धिमत्ता इसी मे है कि वह शोषण के मूल कारण को पहिचाने और व्यर्थ की चक्करबाजी मे न फंसता हुआ अपने आपको जागृत करे और सदैव के लिये शोषण की बुनियाद का खात्मा कर दे।

जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूं, प्रभु की प्रार्थना का रहस्य बडा विचित्र है। एक तरफ दलितों और पतितों को जहाँ इससे आत्मशक्ति और स्वजागृति की चमकती हुई ज्योति दिखाई देती है, वहाँ यही प्रभु की प्रार्थना उन लोगो को, जो अपनी बाहरी शक्तियो के नशे मे बेभान होते है और अभिमान के मद मे अन्याय के नृशंस क्षेत्र मे उतर आते है, विनम्रता का एक सुन्दर पाठ पढाती है। उन्हे यह महसूस कराती है कि ये शक्तियाँ, जिन पर तुझे बड़ा गर्व है, एक क्षण मे नष्ट हो जायगी और तब तू आश्रयहीन होकर दुनिया से बुरी तरह ठुकराया जायगा। उस अवस्था का अपनी आंखो मे चित्र उतार और जागरण का सन्देश ले। प्रभु की प्रार्थना उनके हृदय मे अपनी

सच्ची वस्तुस्थितिका चित्र खींचती है और यह स्पष्ट करती है कि उसकी जो बाहरी शक्तियाँ है, वे उसकी अनधिकार चेष्टा के फलस्वरूप हैं। इस प्रकार शोषक वर्ग भी प्रभु की प्रार्थना से अधिकार और अनधिकार के विश्लेषण को समझ सकता है और समय रहते हुए अपनी स्थिति को सम्हाल सकता है।

समाज की आर्थिक समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति के कई हाथो से कुछ हाथों मे ही संग्रह होने का प्रमुख कारण यह है कि वह अन्यायपूर्वक मजदूरों की मिहनत को अपहृत करके एकत्रित की जाती है। गीता में कहा है—

श्रेयान स्वधर्मोविगुणः, परधर्मात्स्वनुष्ठितात।
स्वधर्मे निधन श्रेयः, परधर्मो भयावहः॥

इस श्लोक का अर्थ वर्णव्यवस्था की दृष्टि से किया जाता है, पर इसका सकुचित अर्थ है। विशालता के दृष्टिकोण से इसका अर्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अपने ही धर्म अर्थात कर्त्तव्य की सीमा मे रहना चाहिये। पौद्गलिक गुणों मे निमग्न न होकर आत्मिक गुणों की ओर ही गति करनी चाहिये। अपने कर्त्तव्य-पालन की उच्च श्रेणी मे पहुचना ही जीवन-विकास का चरम रूप है। परन्तु अन्त मे इसके साथ ही बता दिया है कि 'परधर्मो भयावह'—दूसरो के कर्त्तव्य या अधिकार क्षेत्र मे घुसने की चेष्टाएं हमेशा भयकर अन्त लिये हुए रहती हैं।

अभिप्राय यह है कि आज इस भौतिकवादी सतान से ऊपर उठने की नितान्त आवश्यकता है जिसके आधार पर महान

विग्रह मचे हुए हैं और यह समझने की जरूरत है कि हमारा स्वयं का आत्मा प्रकाशमान् है और आनन्द का मधुर स्रोत है। बाहरी जो सुख है, वे केवल हमारी आत्ममूर्च्छाको ही बढ़ाते हैं और हमें पतन की राह पर ढकेलते है। वास्तविक आनन्द तो इन्द्रियो के क्षेत्र से परे रहता है। 'इन्द्रियाणि पराण्याहु' इन्द्रियो के साथ संयोग करने वाला मन परे है, मन से निश्चयात्मक बुद्धि अलग है। आनन्द करने वाला तथा विशेष जिज्ञासु होने के कारण ज्ञानप्राप्ति मे आनन्द लेने वाला आत्मा है और उसीका आनन्द समय और वस्तु के प्रभाव से रहित है। जब आत्मा इसी आनन्द की शोध मे तल्लीन होता है, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकता है।

अपने आपको न देख और समझ सकने के कारण ही आज एक तरह से आत्मिक सुप्तावस्था सी है। शोषित प्रतिहिंसा की आग मे जलते है तो शोषक अभिमान के नशे मे मतवाले होकर समाज को निष्प्राण बना रहे है। दोनों जब आत्मिक लक्ष्य को समझेगे और अपने आपको जागृत करेगे तभी सभी प्रश्नो का सुन्दर हल निकल सकेगा और समाज स्वस्थ रूप से गतिशील हो सकेगा। जैसे शरीर के सभी हिस्सों में यदि खून की मात्रा समान परिमाण मे न पहुंचे तो शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। उस अंग को लकवा मार जायगा, जिस अग मे खून न पहुंचे। आज मानव समाज को भी ऐसा ही लकवा मार गया है। सांसारिक क्षेत्र में जिसका महत्त्व है, न तो उस

सम्पत्ति का ही खून समाज के सभी अंगो के पास बराबर पहुंचना है न आध्यात्मिक रक्त ही सब अपनाने का प्रयास करते हैं। जैसा कि शरीरवेत्ताओं का मत है कि शरीर के रक्त मे दो तरह के कण (Corpurcells) होते हैं—लाल और सफेद। समाज के खून मे भी दोनो कणो की जरूरत है। सफेद कण शरीर के सिपाही होते हैं, ये ही बीमारी के कीटाणुओ से शरीर की रक्षा करते है। समाज के खून मे लाल कण तो अर्थ (सम्पत्ति) के हैं और सफेद कण अध्यात्मवाद के होने चाहिये, जो विकारो और वासनाओ की बीमारी से मानव समाज की रक्षा कर सके। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सम्मिश्रण ही रक्त बनकर समाजके सभी अंगोमे बराबर मात्रा मे पहुंचता होगा समाज कभी अस्वस्थ नहीं हो सकेगा। हम तो साधु है, परन्तु हम भी समाज से अलग नहीं है। हम संसार से दूर रह कर भी सामाजिक रक्त मे सफेद कणो के निर्माण का काम करते हैं क्योकि जिस खून मे सफेद कण अधिक से अधिक बढते हैं वही खून अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाता है, तो इस प्रकार समाज को शक्तिशाली बनाने का हमारा भी अपना कर्तव्य है।

अन्त में मैं यही कहना चाहूंगा कि हमारा सबका लक्ष्य समाज के स्वास्थ्य की ओर हो। शोषण समाप्त हो और मानव बन्धुत्व की ऐसी सरस भावना प्रसारित हो कि हिंसा और युद्धों का अन्त सदैव के लिये समाप्त हो जाय। इस परम

लक्ष्य तक पहुंच सकनेमे अर्थयुग को मानवयुग मे बदल दे और इस प्रकार जड़ता के वातावरण से दूर हट कर चेतनामय जगत् मे प्रवेश करें, जहां आत्मशक्ति व आत्मानन्द का दिव्य प्रकाश छिटकता है।

एक वार और याद दिलाना चाहता हूं कि सच्चे हृदय से की गई प्रभु की प्रार्थना ही शोषण के मूल को उखाड़ सकती है और सब मनुष्यो के वीच मानव-प्रेम का पवित्र सूत्र पिरो सकती है। मै आशा करता हूं कि आज का त्रस्त और हिंसा-रत जगत् शान्ति के भव्य नन्दन वन की ओर बढ़े तथा अपना उच्चतम विकास उपलब्ध करें।

मन्दसौर (मालवा)] [१०-६-४८

: ३ :

सत् पुरुषार्थ करो उठो !

श्री आदिश्वर स्वामी हो,
प्रणमू सिरनामी तुम भणी -

यह उस महामानव की प्रार्थना है, जिसने सर्वप्रथम पुरुष के पौरुष को जगाया तथा उसे अकर्मण्यता की दलदल से खीच कर 'कर्म' के व्यापक क्षेत्र मे नियोजित किया। भगवान् आदिनाथ आदिकाल के प्रवर्तक थे, जब कि उन्होने कर्म और धर्म का सुन्दर सामजस्य स्थापित किया। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा', जो कर्म मे शौर्य प्रदर्शित करेगे, वे ही तो आखिर धर्म के विराट् क्षेत्र में भी साहस और सजगता के साथ आगे बढ़ सकेगे। जहा शौर्यत्व का ही अभाव है, वहां तो ऐसे लोगो की किसी भी क्षेत्र मे अपेक्षा नही की जा सकती। कर्मशक्ति से भागने वाला, ससार के अपने पुनीत व नैतिक कर्त्तव्यो से सहज ही स्खलित हो जाने वाला, धर्म की दुनियां मे भी स्थिर चित्त कैसे बना रह सकता है?

भगवान् आदिनाथ के पहले युगलिया काल या जिसे आज की भाषा मे आदिम युग कह दे, चल रहा था। उस समय मनुष्य को सिर्फ प्रकृति का ही आधार था। वृक्ष की छाले वस्त्र का काम देती और उसके फल भोजन का। उसके निवास वा व्यवस्था मे कोई खास स्थायित्व नही होता। किन्तु धीरे २ प्रकृति की सम्पन्नता कम होने लगी और उपयोगी पदार्थ घटने लगे तो उनमे परस्पर क्लेश व अशान्ति फैलने लगी। उस समय भगवान आदिनाथ ने उन्हे जगाया, प्रकृति की छिपी हुई महान सम्पन्नता का रहस्योद्घाटन किया। मनुष्यों की सोई हुई शक्तियों मे तब एक सशक्त स्पन्दन पैदा हुआ, जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपने अन्दर और बाहर की शक्तियों को पहचाना और उन्हें कर्म और धर्म के मार्ग मे प्रवृत्त किया। वह एक नये युग का अभ्युदय था।

नाएँ व वाणीविलास किसी भी क्षेत्र मे कार्य की सम्पन्नता मे सफल नही हो सकता। कार्य की सफलता जिस तत्त्व की तह मे निहित है, वह है पुरुषार्थ और इसे जगाये बिना न व्यक्ति जाग सकता है और न समाज, बल्कि अन्तरतम का विकास भी इसके बिना साधा नही जा सकता।

भगवान् आदिनाथ ने आदिम युग मे इसी पुरुषार्थ को जगाया था और उसे कर्म व धर्म की शौर्य भरी राह दिखाई थी। उन्ही आदिनाथ भगवान के तेजस्वी सन्देश को ध्यान मे लाकर आज यह देखना है कि समाज, राष्ट्र और आत्म-विकास की गति मे इस पुरुषार्थ का कैसा अभाव है और वह अभाव किस तरह प्रगति की वृत्तियो और प्रवृत्तियों को कुंठित किये चला जा रहा है ? पहले कि इस दृष्टि से वर्तमान की आलोचना करें और भविष्य को राह शोधे, पुरुषार्थ की अद्वितीय शक्ति का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना उसकी ओर झुकना दृढ व स्थायी नही हो सकता।

एक छोटासा उदाहरण है। कुए से पानी निकालने वाली एक पतली सी रस्सी भी बार २ किनारे के पत्थर से रगड खाकर उस पर गहरे गड्डे बना देती है। कहाँ वह पतली व कोमल रस्सी और कहा दूसरी ओर मजबूत व कठोर शिला-खड, फिर भी वह रस्सी जूझती है और उस कठोरता मे भी अपना रास्ता बनाती है। यह मामूली सा उदाहरण ही हमे पुरुषार्थ की महान् शक्ति का मर्म दिखाता है। अकर्मण्यता और

शिथिलता बहने जैसी है और उसके बाद इनकी गति निश्चय ही सभी तरह की विकृति की ओर बढ़ती है। जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो क्या तो उसके शरीर के स्नायु और मस्तिष्क के तंतु क्या उसकी हृदय की प्रवृत्तिकारक भावनाएं, सभी शिथिल होने लगते हैं। उसके कार्यों में विशृंखलता और गतिहीनता पैदा होने लगती है। जैसे शरीर की शिथिलता बीमारियों के आक्रमण को सरल बना देती है, वैसे ही मन और आत्मा की कमजोरी विनाशक विकृतियों को बुलाना देती है जिनके आगमन के साथ सर्वतोमुखी पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में पुरुषार्थ की भावना होती है, जिसकी मानसिक व आत्म शक्तियां कार्यनियुक्त रहती हैं, उसमें [illegible] जागरण का [illegible] होता है और उस जागरण के

फिर विलासिता की ओर झुकना होता है। फिर विलासिता और अकर्मण्यता का ऐसा तांता बंध जाता है कि उनके शिकंजों से समाज को मुक्त करना भी दु:साध्य हो जाता है। दूसरी ओर पुरुषार्थी जल के लिये कुआ खोदने मे जुट जायगा। ज्यो २ वह खोदता चला जायगा, उसके श्रम मे साध्य (जल) के प्रति निकटतर पहुंचते चले जाने के कारण एक विशेप प्रकार का हर्ष घुलता मिलता रहेगा और वह हर्षमिश्रित श्रम उसमें ऐसी व्यापक सद्भावना पैदा करता है कि जल प्राप्त होने पर भी उसे वह निज की ही सम्पत्ति न मान कर सार्वजनिक उपयोग की वस्तु बना देता है। उसमे उदारता खिलती है, क्योंकि उसे जल के अप्राप्य होने का भय नही, उसे अपने श्रम पर, पुरुपार्थ पर और अपनी शक्ति पर विश्वास होता है।

यह है पुरुपार्थ और पुरुपार्थहीनता के बीच की गहरी खाई का दृश्य, जिसमे मनुष्य आसानी से अपने विकास और पतन का रास्ता ढूंढ सकता है। पुरुपार्थी के लिये कठिनतम कार्य भी असंभव नही होते और जहां असभावना की विचारधारा ही नहीं, वहा रुकना और गिरना कैसा ? वहां तो निरन्तर बढ़ते रहना है और बीच मे आने वाली आपदाओं से सफलता पूर्वक लडते भिडते रहना है। इसी पुरुपार्थ के प्रबल आवेग में नेपोलियन ने ललकार कर कहा था कि असंभव शब्द सिर्फ मूर्खों के कोप मे होता है और उसने किसी अपेक्षा से बिल्कुल ठीक कहा था। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के लिये महान से महान

कार्य सम्पादन भी कतई असंभव नहीं। पौरुष के आगे हमेशा राह होती है।

कार्यशक्ति कभी असफल नहीं होती—यह एक तथ्य है। किन्तु फिर भी लोगों मे विपरीत वृत्ति देखी जाती है कि वे सुख और आनन्द तो चाहते हैं मगर काम से घबराते हैं, आलस्य की शरण मे अधिक जाते हैं। इस तरह उन्हें सफलता नहीं मिलती, क्योंकि बिना सतत प्रयासों के वह संभव नहीं। [illegible] जब [illegible] तक निचोड़ा जाता है तो निचोड़ने वाला उस

रख २ कर व अपनी विलासी इच्छाओं की पूर्ति कर धर्म को कलंकित किया है, लोगों मे धर्म के प्रति अनास्था पैदा की है। ऐसे लोगो ने धर्म के सिर्फ बाह्य रूप को पकड़ कर रखा; बाह्य रीति से चाहे कुछ त्याग-प्रत्याख्यान व सामायिक-संध्या, नमाज-पूजा कर लेते है या तिलक चढ़ाते, जनेऊ पहनते अथवा वैसे ही अनुष्ठान कर लेते है, किन्तु आत्म-विकासके लिये हृदय मे जो एक आग जलनी चाहियें, उस वास्तविकता का अस्तित्व ऐसे लोगो मे मिलना कठिन सा ही होता है। धर्म का सर्वोच्च उद्देश्य था कि मन की सारी मलिनता को धो डालना, वहाँ इस ओर विभिन्न धर्मावलम्बियो की ओर से नही सा ही ध्यान दिया गया और यह एक ऐसा उद्देश्य था, जिसमे परम पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

अब हम धर्म के इस विमल उद्देश्य की ओर मनुष्य क्यों नही झुका—इस सम्बन्ध मे उसकी दुर्बलताओ व विवशताओं पर विचार करे, क्योंकि मन की मलिनता हटे बिना किसी भी क्षेत्र का शुद्धिकरण नही हो सकता और मन की मलिनता का हटना बिना सुदृढ व सतर्क पुरुषार्थ के संभव नही। अत उक्त कारणो के ज्ञान के बाद किन्ही अशो मे पुरुषार्थ की—जागरण की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

धर्म के फलने-फूलने व व्यापक होने का क्षेत्र भी यह संसार ही है अत धर्म और ससार का समूचा प्रथक्त्व नहीं हो सकता। सासारिक व्यवस्थाओ का, इसमे कोई सदेह नहीं कि

कार्य सम्पादन भी कतई असंभव नहीं। पौरुष के आगे हमेशा राह होती है।

कार्यशक्ति कभी असफल नहीं होती—यह एक तथ्य है। किन्तु फिर भी लोगों मे विपरीत वृत्ति देखी जाती है कि वे सुख और आनन्द तो चाहते हैं मगर काम से घबडाते हैं, आलस्य की शरण मे अधिक जाते हैं। इस तरह उन्हे सफलता नहीं मिलती, क्योंकि विना सतत प्रयासो के वह सम्भव नही। दही जब घटो तक विलोया जाता है तो विलोने वाला उस समय नहीं जानता कि इधर से उधर हाथ हिलाते रहने का क्या प्रतिफल होगा, पर वह तो विलोता ही चला जाता है और उसमे से सार तत्त्व-मक्खन को प्राप्त करता है। इसी तरह हजारो मन पत्थर खोदते चले जाने के बाद जब कही एक भी हीरे की कनी मिल जाती है तो सारा पुरुषार्थ पुरस्कृत हो जाता है।

कर्म के शूर ही धर्म मे भी शूर सिद्ध होते हैं, क्योंकि विना शौर्य व पुरुषार्थ के धर्माराधना भी कहां ? प्रमादी व्यक्ति तो कहीं भी सफल नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने इसी-लिये स्पष्ट कहा है कि 'समय गोयम, मा पमायए' अर्थात् हे गौतम! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर! छोटा से छोटा क्षण भी जहाँ मनुष्य आलस्य से रंग देता है वहां उसमे उसके जरिये कुछ न कुछ बुराई घुस ही जाती है। इसलिये इसे सत्य समझना चाहिये कि आलसी लोगों ने ही धर्म का ढोंग

रच २ कर व अपनी विलासी इच्छाओं की पूर्ति कर धर्म को कलंकित किया है, लोगो मे धर्म के प्रति अनास्था पैदा की है। ऐसे लोगो ने धर्म के सिर्फ बाह्य रूप को पकड़ कर रखा, बाह्य रीति से चाहे कुछ त्याग-प्रत्याख्यान व सामायिक-संध्या, नमाज-पूजा कर लेते है या तिलक चढ़ाते, जनेऊ पहनने अथवा वैसे ही अनुष्ठान कर लेते है, किन्तु आत्म-विकासके लिये हृदय मे जो एक आग जलनी चाहियें, उस वास्तविकता का अस्तित्व ऐसे लोगों मे मिलना कठिन सा ही होता है। धर्म का सर्वोच्च उद्देश्य था कि मन की सारी मलिनता को धो डालना, वहाँ इस ओर विभिन्न धर्मावलम्वियो की ओर से नही सा ही ध्यान दिया गया और यह एक ऐसा उद्देश्य था, जिसमे परम पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

अब हम धर्म के इस विमल उद्देश्य की ओर मनुष्य क्यों नही झुका—इस सम्बन्ध मे उसकी दुर्बलताओं व विवशताओं पर विचार करे, क्योंकि मन की मलिनता हटे विना किसी भी क्षेत्र का शुद्धिकरण नही हो सकता और मन की मलिनता का हटना विना सुदृढ व सतर्क पुरुषार्थ के संभव नही। अत उक्त कारणो के ज्ञान के वाद किन्ही अंशो मे पुरुषार्थ की—जागरण की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

धर्म के फलने-फूलने व व्यापक होने का क्षेत्र भी यह संसार ही है अत धर्म और ससार का समूचा प्रथक्त्व नहीं हो सकता। सांसारिक व्यवस्थाओ का, इसमे कोई सदेह नहीं कि

धार्मिक जीवन पर काफी असर पड़ता है। कल्पना करें कि यदि संसार में अशान्ति और अराजकता मची हो तो धार्मिक शान्ति की साधना कैसे संभव हो सकती है? स्वयं के लिये और दूसरों के जीवन-विकास के लिये तो उस त्राहि त्राहि में प्रयास होना दुष्कर ही हो सकता है। इसी तरह समाज का राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था भी अगर शोषण व व्यक्तिगत लाभ के आधार पर बनी रही तो विषमता में अनैतिकता का प्रसार निश्चित सा है और जब अनैतिकता फैलती है तो धर्म उखड़ता है—यह एक तथ्य है। तो मैं आपसे कहना चाहता था कि मनुष्यों के मन की मलिनता नष्ट न हो सकने के अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण यह भी है कि आज के समाज व राज्य में अन्न व वस्त्र की सुव्यवस्था का अभाव है। मनुष्यों को अधिक पाप रोटी और कपड़े की प्राप्ति के लिये करने पड़ते हैं, क्योंकि फैली हुई आर्थिक परिस्थितियाँ इसके लिये बहु-संख्यक जनता को विवश कर देती है। यदि यही आर्थिक व्यवस्था जैनधर्म के अपरिग्रह सिद्धान्त अर्थात् नीति और समानता के आधार पर होती तो ऐसी अनाचारपूर्ण स्थिति नहीं बनती।

इस पापपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद में यह भावना काम कर रही है कि पुरुषार्थ और श्रम न किया जाय। प्रायः हर व्यक्ति यह चाहता है कि वह व्यापार, नौकरी या सट्टा आदि ऐसा व्यवसाय पकड़ ले कि मेहनत तो कम से कम

करनी पड़े और लाभ अधिक से अधिक पैदा हो सके। यह पहले ऊपर बताया जा चुका है कि जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो उसमे दूसरे की वस्तु छीनने की भावना होती है, क्योकि आवश्यकताओ को तो वह दबाता नही, बल्कि किन्ही अंशो मे बढ़ाता है और वैसी स्थिति मे शोषण और मुनाफा वृत्ति की नीव जमती है। पैसे का शोषण अर्थात् सग्रह और संग्रह का फल विषमता तथा विषमता समाज के दु ख व दुर्भावना ; प्रधान कारण बन जाती है। व्यापार ही देखिये, जो पहले नीति और जन-सुविधा के आधार पर चलता था, आज जन असुविधा पर ही उसे फलीभूत किया जाता है। वह यह रह गया है कि इधर की वस्तु उधर दी। दो बिल्लियो की लड़ाई होने पर एक बन्दर उनका निपटारा करने आया और मुफ्त की रोटी खा गया, वैसे ही व्यापार प्रायः मुफ्त का माल खाना रह गया है। मनुष्य यदि स्वयं स्वावलम्बी होकर खाए तो उसके मन मे धर्म का निवास हो सकता है। आनन्द आदि श्रावको के यहाँ उत्पादन के साधन कृषि, पशुपालन आदि की सारी व्यवस्था रहती थी। श्रम और सद्भावना याने धर्म जुड़े हुए से रहते है।

जो स्वय स्वावलम्बी नही होते, वे परमुखापेक्षी तथा पुरुषार्थ-हीन होते चले जाते हैं। कन्ट्रोल के जमाने मे अन्न-वस्त्र पूरा नहीं मिलता, जिससे काला बाजार होता है और काले बाजार का अन्न मन की शुद्धि कैसे बनाये रख सकता है? आप लोगो

की ही क्या कहूं. हम साधना करने वाले साधुओं के सामने भी बडा विकट प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आप लोगो को जो राशन मिलता है, उससे आप लोगों को भी पूरा नहीं पड़ता, फिर आप साधुओं को दान कैसे दे सकते है? आप नगर निवासियों को तो इच्छित रूप से अन्न-सग्रह की स्वतन्त्रता नहीं है और हम लोगो के पास राशन कार्ड नहीं, क्योंकि जैन मुनि अपने लिये बनाया हुआ या खरीदा हुआ भोजन लेते ही नहीं, तो यही दिखता है आप काले बाजार के अन्न से हमे भिक्षा देते होगे? गाँवों मे लोग खुद स्वावलम्बी होते है, बिना काले बाजार का खाते है, अत हमे निर्दोष भोजन मिलता है। मैं कई बार सोचता हूँ और इसी निर्णय पर पहुचता हूँ कि मनुष्यो का जीवन स्वावलम्बी बने और वे पुरुषार्थ से अपना जीवन-निर्वाह करने मे स्वतन्त्र हो, तब ही वे सही रूप से धर्म का पालन कर सकते हैं और साधु भी अपनी साधना मे शुद्धि बनाये रख सकते है।

सभी बुराइयो व बुराइयो का मूल आलस्य है। देश मे अनेकों भिक्षुक है, जो अपने जीवन मे आलस्य के कारण जनता पर भारभूत बने हुए है। पुरुषार्थ करने की शक्ति होते हुए भी जो साधना नहीं रखते है और आलस्य से माग खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषहरि भिक्षा है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे जापान के हिरोशिमा नगर पर अणुबम डाल कर भयानक विनाश उपस्थित किया गया था, किन्तु कहा जाता है कि जापानियो ने अपने

अद्भुत श्रम व उत्पादन शक्ति से उस प्रदेश को पुनः सुख सुविधा सम्पन्न बना दिया है। भारत देश के शरणार्थी भाइयों को ही देखिये, जिन्होंने इतने अभाव के वातावरण मे भी अपने पैर टिकाये है और आज तो उन्हें शरणार्थी के बदले श्रम करने की वजह से 'पुरुषार्थी' भी कहा जाने लगा है।

आज मै आपसे प्रश्न करूं कि भारत के लोग इतने आस्तिक है, धर्म को मानते है फिर भी इतने दुखी क्यो है? इसकी तह मे उतरे तो यही पायेंगे कि दूसरो के पसीने पर गुलछर्रे उडाने की भावना ने घर कर लिया है, पर यह सबसे बडा पाप है, चूकि दुनिया मे सब ही पापो की जड आलस्य है. अधिकांश चोरियां, लडाइयां व अन्य अनैतिकता के कार्य भी इसी आलस्य के कारण ही होते है। लोग केवल धर्म का नाम लेते हैं, फिलॉसफी जानते है किन्तु सिर्फ ज्ञान कुछ नही कर सकता, वह तो 'ज्ञानं भारः क्रिया विना' होता है।

वर्तमान शिक्षण की पद्धति तो बडी विचित्र है। पढा लिखा युवक ऐसा निकलता है कि उसे काम नही सुहाता, कुर्सी की इच्छा होती है। फल यह होता है कि वह सिर्फ नौकरी की टोह मे घूमता है और बेकारी के कारण वह भी मिलना कठिन हो जाती है, तब उसका निज का जीवन भी उसके लिये भारभूत बन जाता है। एक उदाहरण है कि एक बार एक पढ़ा लिखा नैयायिक तेल खरीदने के लिये तेली के यहां गया। तेली घाणी पर काम कर रहा था और घूमने हुए बैल के गले मे बंधी घंटी

टुनन टुनन वज रही थी। तेली घाणी का कुछ काम करके बाहर दूसरे काम से चला जाता था और बैल घूमता रहता था। यह सब देख कर नैयायिक को बडा आश्चर्य हुआ। उसने तेली से बैल के गले मे घंटी बाधने का कारण पूछा तो तेली ने बताया कि उसके बाहर चले जाने पर भी जब तक घंटी बजती रहती है, वह समझता है कि बैल चल रहा है और घंटी की आवाज बन्द होते ही बैल को चलाने के लिये वह वापिस आ जाता है। इस पर नैयायिक ने शंका की कि अगर बैल खडा रह कर गर्दन हिलाता रहे तो घंटी बजती ही रहेगी। तेली हंस पडा और बोला कि मेरा बैल आप सरीखी शिक्षा नही पाया हुआ है कि काम न करे और धोखा देता रहे। किन्तु आज का शिक्षित युवक तो उस नैयायिक की तरह सोचता ही नही, करता भी है। अब बताइये कि तेली के उस बैल से भी युवक का जीवन कैसा हो गया है? गांवो के अपढ किसान-मज़दूर भी ऐसी शिक्षा पाने लगे तो देश का क्या हाल होगा? आज वह वर्ग पुरुषार्थी है श्रम करता है और सबको जीवन-दान दे रहा है। आज की निष्क्रिय और अकर्मण्य बनाने वाली शिक्षा पद्धति तो सामाजिक जीवन के लिये एक अभिशाप बन गई है।

गांधीजी के जीवन की ओर नज़र डाले तो उनके अद्भुत विकास का यही रहस्य दिखाई देगा कि उनका जीवन ज्ञान के साथ २ पुरुषार्थी था। जिस तरह मस्तिष्क की मशक्कत के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता है उसी तरह शरीर-स्वास्थ्य

के लिये शारीरिक श्रम भी जरूरी है। शरीर श्रम-के विना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नहीं रह सकती। इस तरह शरीर-श्रम की सबके लिये अनिवार्यता समाज मे एक महत्त्व-पूर्ण स्थिति है। जैसे शरीर मे रक्त-संचरण वन्द हो जाय तो लकवा होता है या हार्ट फेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज मे भी एक तरह का पंगुपन पैदा होने लगता है। गांधीजी के जीवन के ऐसे कई उदाहरण है, जब यह देखने को मिलता है कि अपने पुरुषार्थ से उन्होने दूसरों पर कितना गहरा असर डाला था? एक वार एक बहुत वडा और फैशनपरस्त आदमी जब गांधीजी के आश्रम मे पहुचा तो एक मिट्टी खोदते हुए आदमी से गांधीजी के लिये पूछने लगा और 'क्या काम है?' ऐसा पूछने पर तो बुरी तरह झल्लाने और बुरा भला कहने लगा। मगर उसके आश्चर्य और लज्जा का ठिकाना नही रहा, जब उसे मालूम हुआ कि मिट्टी खोदने वाला आदमी ही गांधीजी है। ऐसे क्षण पुरुषार्थ जगाने वाले क्षण होते हैं।

विकास की राह पर आगे बढने का यह विशिष्ट उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बने स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरो पर खडे होवे। तभी आपको दूसरो का सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। ऊपर की चटक मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षण भर के लिये धोखा देकर अपनी ओर आक-र्षित किया जा सकता है किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के विना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह किसीके हृदय

टुनन टुनन बज रही थी। तेली घाणी का कुछ काम करके बाहर दूसरे काम से चला जाता था और बैल घूमता रहता था। यह सब देख कर नैयायिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने तेली से बैल के गले में घंटी बांधने का कारण पूछा तो तेली ने बताया कि उसके बाहर चले जाने पर भी जब तक घंटी बजती रहती है, वह समझता है कि बैल चल रहा है और घंटी की आवाज बन्द होते ही बैल को चलाने के लिये वह वापिस आ जाता है। इस पर नैयायिक ने शंका की कि अगर बैल खड़ा रह कर गर्दन हिलाता रहे तो घंटी बजती ही रहेगी। तेली हंस पड़ा और बोला कि मेरा बैल आप सरीखी शिक्षा नहीं पाया हुआ है कि काम न करे और धोखा देता रहे। किन्तु आज का शिक्षित युवक तो उस नैयायिक की तरह सोचता ही नहीं, करता भी है। अब बताइये कि तेली के उस बैल से भी युवक का जीवन कैसा हो गया है? गाँवों के अपढ़ किसान-मजदूर भी ऐसी शिक्षा पाने लगे तो देश का क्या हाल होगा? आज वह वर्ग पुरुषार्थी है, श्रम करता है और सबको जीवन-दान दे रहा है। आज की निष्क्रिय और अकर्मण्य बनाने वाली शिक्षा पद्धति तो सामाजिक जीवन के लिये एक अभिशाप बन गई है।

गाधीजी के जीवन की ओर नजर डाले तो उनके अत्युच्च विकास का यही रहस्य दिखाई देगा कि उनका जीवन ज्ञान के साथ २ पुरुषार्थी था। जिस तरह मस्तिष्क की मशक्कत के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता है, उसी तरह शरीर-स्वास्थ्य

के लिये शारीरिक श्रम भी जरूरी है । शरीर श्रम-के विना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नही रह सकती । इस तरह शरीर-श्रम की सबके लिये अनिवार्यता समाज मे एक महत्त्व-पूर्ण स्थिति है । जैसे शरीर मे रक्त-संचरण बन्द हो जाय तो लकवा होता है या हार्ट फेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज मे भी एक तरह का पंगुपन पैदा होने लगता है । गांधीजी के जीवन के ऐसे कई उदाहरण है, जब यह देखने को मिलता है कि अपने पुरुषार्थ से उन्होंने दूसरों पर कितना गहरा असर डाला था ? एक बार एक बहुत बड़ा और फैशनपरस्त आदमी जब गांधीजी के आश्रम मे पहुंचा तो एक मिट्टी खोदते हुए आदमी से गांधीजी के लिये पूछने लगा और 'क्या काम है ?' ऐसा पूछने पर तो बुरी तरह भल्लाने और बूरा भला कहने लगा । मगर उसके आश्चर्य और लज्जा का ठिकाना नही रहा. जब उसे मालूम हुआ कि मिट्टी खोदने वाला आदमी ही गांधीजी है । ऐसे क्षण पुरुषार्थ जगाने वाले क्षण होते हैं ।

विकास की राह पर आगे बढ़ने का यह विशिष्ट उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बनें स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरो पर खड़े होवे । तभी आपको दूसरो का सम्मान भी प्राप्त हो सकता है । ऊपर की चटक मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षण भर के लिये धोखा देकर अपनी ओर आक-र्षित किया जा सकता है किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के बिना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह किसीके हृदय

को स्थायी रूप से प्रभावित नही किया जा सकता। आडम्बर टिक नही सकते, उन्हे स्वप्नो के समान नष्ट होना पडता है। भारतीय संस्कृतिका ही एक दृष्टान्त दू कि यहा पर गणगौर का त्यौहार काफी प्रसिद्ध है। इस दिन पार्वती की एक सुन्दर मूर्ति को अत्यन्त सुन्दर वस्त्रो व बहुमूल्य अलकारो से सजाते है, फिर उसे अपने कन्धो पर उठा कर सब ओर घूमाते हैं। किन्तु इतना सब होने पर भी उसे पानी मे डुबा (बोला) देते है। तो इस त्यौहार से यह क्यो न सबक लिया जाय कि किसी तरह आप साधन-सामग्री जुटा कर आडम्बर की चमकदार रचना कर लेते है, बल्कि उसके जरिये सम्मान भी प्राप्त कर लेते है, लेकिन आगे यह क्यो नही सोचते कि उस 'गणगौर' का सम्मान कितने समय तक टिकता है और उसके बाद मे उसकी क्या अवस्था होती है ? यह तो अपने जीवन के प्रति गहराई से सोचने और समझने की बात है। जो पुरुपार्थी नही, उन्हें समाज भले ही क्षण भर के लिये अपनाता दीखे किन्तु अन्ततोगत्वा वे सब बुरी तरह फेक दिये जाते हैं।

पुरुपार्थ के विषय मे बहनो से भी दो शब्द खास तौर पर इसलिये कहूंगा कि घर मे बहुत सी बहने 'गणगौर' होकर बैठी रहती हैं, रसोई आदि का सब काम नौकरो से करवाती है। इससे श्रम की वृत्ति हटती है, जिसके साथ जो बुराइया आती है, वे तो हैं ही। सिवाय इनके असयम बढ़ता है; क्योंकि जिस विवेक और कौशलता के साथ सभी कार्य किये जाने चाहिये,

वे नौकरो द्वारा उस तरह नही हो पाते । ऐसे असंयम के भागी आलस्य करने वाले ही होते है ।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते है और नाना तरह की युक्तियां देकर अपनी आदतो की पुष्टि करते है । 'भाग्य मे जो होगा, वही होगा'—यह भी आलस्य की ही मूल भावना है । भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिये मनुष्य उसे बदल भी सकता है । जीवन के ह्रास और विकास मे भाग्य मुख्य नही है, पुरुषार्थ और श्रम प्रधान कारण है । परिश्रम से दूर भागने वाले अधिकतर भाग्य की दुहाई देकर अपनी आलस्य वृत्ति को छिपाना चाहते हैं । साहस के साथ आगे बढ़ने वाले भाग्य को नही देखते, वे तो एकमात्र कर्त्तव्य पर अपना अधिकार समझते है और कर्त्तव्य की एक-निष्ठा तथा पुरुषार्थी प्रतिभा से भाग्य के बहाव को भी मोड देते है । भाग्य और पुरुषार्थ की टक्कर मे पुरुषार्थ की ही विजय होती है । भाग्य तो पुरुषार्थ का दास है । पुरुषार्थी के चरणो मे भाग्यश्री लोटती है, फिर भी उसे उसकी चाह नही रहती । यह है पुरुषार्थ का जीवन पर पडने वाला अमिट प्रभाव !

तो हम प्रारंभ मे भगवान् आदिनाथ की प्रार्थना कर रहे थे और सोच रहे थे कि किस प्रकार उन्होने जन-जीवन मे एक महान् जागृति का एव कर्मयुग का श्रीगणेश किया ? उन्होने पुरुषार्थ की वृत्ति को स्थायी वृत्ति बना देने के लिये पुरुषों को ७२ व स्त्रियो को ६४ कलाएं सिखाई, जिनके द्वारा कर्मयोग व

धर्मयोग दोनो मे आलस्य को समाप्त करने के प्रयास किये गये। भगवान् ने पहले मनुष्यों को कर्मठ बनाया व बाद मे धर्म का उपदेश दिया; क्योंकि सत्शिक्षा द्वारा सदाचरण वही व्यक्ति कर सकता है, जो कर्मण्य व कर्त्तव्यनिष्ठ हो· प्रमादी नही। जो व्यक्ति मोक्ष या धर्म के नाम पर आलस्यमय जीवन व्यतीत करते है तो वास्तव मे वे धर्म के अधिकारी नहीं। वे भगवान् आदिनाथ द्वारा प्रदर्शित पथ पर नहीं चल रहे हैं।

अन्त मे मैं फिर दोहराऊं कि समाज व धर्म के सभी क्षेत्रो मे आगे बढ़ने व सुखी बनने का यह सीधो मार्ग है कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थी बने। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक श्रम विलासिता, भीरुता व प्रमाद के बन्धन-कडिया काट डालेगे और इनके द्वारा व्यक्ति मे सरलता आत्मगौरव व सत्पथ पर चलने की अथक सजगता उत्पन्न होगी। इन सद्गुणो के आधार पर सिर्फ व्यक्ति का ही विकास नही होगा, बल्कि समाज के विभिन्न क्षेत्रो व व्यवस्थाओ मे आज जो सडान पैदा हो गई है, वह भी सुव्यवस्था मे बदल जायगी। सत्पुरुषार्थ वृत्ति-जीवन विकास की निश्चित सीढ़ी है।

———————

: ४ :

दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे

"श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन
वन्दन-पूजन योग जी ..

यह सर्वथा सत्य है कि संसार का कोई भी प्राणी दु ख की वाछा नही करता, वल्कि हर युग मे यह सनातन प्रश्न रहा है कि दु ख का विनाश कैसे किया जाय ? यह दूसरी बात है कि मनुष्य आज तक अधिकतर वेसमझी के साधनो की ओर भागता रहा है किन्तु उसका साध्य सदैव सुख ही रहा है। दु खो का नाश हो और सुख मिले, इसकी शोध मे हर प्राणी भटकता रहता है। कवि विनयचन्द जी भी यहा जिन परमात्मा की प्रार्थना कर रहे है, उनका नाम अभिनन्दन है जिसका अर्थ होता है प्रशसनीय व स्तुत्य। सभी आस्तिक परमात्मा की प्रार्थना करते है स्तुति करते है किन्तु इसके पीछे कौन सी

कारण है—उसे भी कवि इसमें साफ करते हैं कि वे अभिनन्दन 'दुःख निकन्दन' है—दु खों को नष्ट करने वाले हैं।

अब यह सोचने की चीज है कि क्या वास्तव मे भगवान् सर्व दुःखो का नाश करते है? अगर वे ऐसा करते हैं तो चूंकि वे सर्वज्ञानी होते है, इसलिये सबके दु खो को हस्तामलकवत् देखते है और इसके साथ ही चूंकि वे सर्वशक्तिमान् होते है, इसलिये उन दु खों को नष्ट करने को पूर्ण समर्थ हैं व उनका ऐसा स्वभाव भी है। तब यह देखना है कि जगत् मे कोई दु'खी तो नही है? क्योंकि एक शक्तिशाली के साथ रहते हुए किसी को शत्रु का कोई भय नही हो सकता तथा जब वह रक्षा करता है तभी उस पर विश्वास भी जमता है। आज भी है। जब शासक लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते व उचित सुविधाओ को सबके लिये सुलभ नहीं बनाते तो जनता भी उनके अधिकारो को मानने के लिये तैयार नही रहती। इसी तरह अगर भगवान् दु ख मिटा देते हैं तो फिर इतने लोग दु खी क्यो? और जब इतने लोग दु खी हे तो भगवान् को 'दु ख निकन्दन' कैसे कहा जाय? यह प्रश्न आप लोगो के मस्तिष्को मे चक्कर काट रहा होगा। कई श्रद्धालु लोग भी तग आकर यह कह देते हैं कि ईश्वर व धर्म पर विश्वास करके अगर हम आज की दुनिया मे चले तो पेट भरना भी मुश्किल हो जाय, क्योंकि वे लोग अक्सर सुखी देखे जाते हैं, जो व्यवसाय मे प्रवेश कर धर्म और नीति को भूल जाते हैं। ऐसे ही कई तर्क हैं,

जिनके आधार पर लोगो का धर्म व ईश्वर मे विश्वास लडखड़ा जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उनके सामने लटका ही रहता है कि अगर परमात्मा दुःख मिटाता है तो फिर हम दुःखी क्यो ?

परन्तु मै आपको बताऊं कि यह प्रश्न जितना विकट है, इसका समाधान दरअसल उतना ही सरल है। भगवान् दुःखो का नाश तो करते है पर कैसे?—यही ठीक तरह से समझने की वस्तुस्थिति है।

आज कल रोगो की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति यही मानी जाती है कि रोग का बिल्कुल प्राकृतिक ढंग से ईलाज किया जाय। इसे प्राकृतिक चिकित्सा कहते है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि शरीर मे जब अस्वाभाविक द्रव्य अधिक बढ़ जाते हैं तो रोग की उत्पत्ति होती है। तब चिकित्सक पथ्य का निर्देश करते है और वैसी पद्धति बताते है जिससे पहले के इकट्ठे हुए अस्वाभाविक द्रव्य भी नष्ट होते जावे। धीरे २ प्राकृतिक ढग से रोग का मूल ही कट जाता है। ठीक इसी तरह भगवान् भी प्राणियो के आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक दुःखो का कारण बताते है तथा दुःखो की उत्पत्ति के मूल पर ही आघात करने को कहते है। लोगो की समझ का यही फेर है कि दुःख तो मिटाना चाहते हैं परन्तु दुःख पैदा करने वाले कारणों को न तो समझते हैं और न छोड़ना ही चाहते है। फिर अगर 'कारण' नही छूटता तो 'कार्य' होनेमे सिवाय खुद के किसको दोष दिया जा सकता है? कोई ऊपर पत्थर फेक कर

नीचे सिर रख दे और परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे प्रभु, मुझे पत्थर की चोट न लगे तो यह हास्यास्पद है। उसी तरह से रोग तो दूर करना चाहे, पर अपथ्य करते रहे तो यह निश्चय है कि रोग दूर नही हो सकता।

भगवान् तो उस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह है जो शरीर मे बढने वाले अस्वाभाविक द्रव्यो को लेखा बता कर उसके लिये तदनुसार पथ्य का निर्देश कर देते है। अब यह रोगी पर उत्तरदायित्व रहता है कि वह किस तरह पथ्य को निभाता है तथा प्राकृतिक पदार्थों व चिकित्सा पद्धति मे अपने जीवन-क्रम को ढाल देता है। इसी तथ्य पर ही उसकी स्वास्थ्य प्राप्ति भी आधारित रहती है। भगवान भी हमारे दु ख दूर करना चाहते है, उन्होने उसके कारण व उपाय बताये है। लेकिन अगर हम ही अपना कर्त्तव्य न निभा सके और उस कारण दु खो के नरक कुंड से बाहर न निकल सके तो यह हमारे लिये ही विचारणीय प्रश्न है। क्योकि भगवान् तो हमारे लिये आदर्श है तथा अपने जीवन व उपदेशो द्वारा परम प्रेरणा के स्रोत है, सृष्टि-सचालन वा हमारे भाग्यो तथा कर्मो के निर्माण व चालन का भार उन पर नही।

ससार में सुख की अविरल धारा प्रवाहित करने के लिये भगवान् द्वारा प्रदर्शित यह ध्रुव मार्ग है कि अगर तुम्हे दु ख नहीं चाहिये और सुख चाहिये तो अपनी ओर से भी किसीको दुःख न दो, किन्तु सुख दो। आज की न्याय पद्धति का आधार

भी आपको यही मिलेगा। अगर एक कोई अपराध कर देता है और दूसरा भी कानून अपने हाथ मे लेकर उसका बदला लेने की कोशिश करता है तो न्याय मे दोनो अपराधी गिने जाते है। क्योकि इसके पीछे भी यही सिद्धान्त है कि अगर तुम चाहते हो कि तुम्हे कोई न सतावे और शान्ति दे तो तुम भी किसीको मत सताओ। बल्कि चाहिये तो यह कि कोई तुम्हें सता भी दे तो तुम उसे ढंग से शिक्षा दिलाने का प्रयास करो, बदले मे बर्बर न बन जाओ।

इस विचारणा को अगर गंभीरता पूर्वक समझने की चेष्टा की जाय तो आत्म-स्वरूप के समीप पहुँचा जा सकता है। उस समय ऐसी अनुभूति होगी कि अपने दुःखो के लिये दूसरो को दोष देना व्यर्थ है। अगर हम ही अपनी प्रवृत्तियो को सीमित व वृत्तियो को सयमित रखे अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझे व कर्त्तव्य पथ पर चलावे तो दुःखो की सृष्टि ही नही होगी, बल्कि निजत्व को विसर्जन कर देने के स्वर्गीय भावों के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा। भगवान् महावीर उत्तराध्ययनसूत्र मे कहते है'—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय, सुहाणय

अर्थात् सुख-दुःख का कर्त्ता व भोक्ता अपना निज का आत्मा ही है। गीता मे भी यही कहा गया है—"उद्धरेदात्मनात्मानम्" कि अपना उद्धार अपनी ही आत्मा से करो। करीब २ सभी धर्मो मे यही कहा गया है। अत पहली आवश्य-

कता यह है कि अपनी आत्मानुभूतियो को सही रूप मे ढाला जाय।

महात्मा बुद्ध एक बार भिक्षा लेने के लिये जा रहे थे, मार्ग मे उन्होने कुछ लड़को को मछली मारते देखा। यह देख बुद्ध उनके पास गये और पूछा—बालको, क्या तुम दु ख से डरते हो? दु ख तुम्हे क्या अप्रिय है? लडको ने उत्तर दिया—हम तो दुःख से घबराते है, हमे दु ख नही चाहिये। तब बुद्ध ने उन्हें समझाया कि चूंकि तुम दु ख दे रहे हो, इसलिये तुम्हें दुःख अवश्य मिलेगा। यदि दु ख नही चाहिये तो प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप से तथा मन से भी किसीको दु खित करने की ओर मत झुको।

वैसे समझने मे यह सिद्धान्त बड़ा सरल प्रतीत होता है कि दुख न दो, दुःख नही होगे, किन्तु अगर आजके अशान्त व हिसात्रस्त विश्व मे व्यक्ति व राष्ट्र सही तौर पर इसे आचरण मे लाना प्रारंभ कर दे तो निश्चय समझिये कि शान्ति एवं सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरो के दु खो पर कुछ लोगो के सुखो का ससार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दु ख के सिवाय कुछ नही निकलता। मैं इस सम्बन्ध मे यहा विस्तार से नही बताकर सक्षेप मे ही बतलाऊगा कि वास्तव मे वर्तमान मानव समाज के बीच ऐसी स्थिति विद्यमान है।

आज के व्यापार या व्यवसाय मे देखिये, जैसे यह आधार मानकर चला जाता है कि जिस तरह दूसरे को जितना लूटा जा सकता है, लूट लिया जाय। नमूना अच्छा बताया, माल खराब दिया। अधिक माप-तौल बताकर कम मापा तौला। अनाज मे साधारण कंकर नही मिलाया जा सकता तो अनाज की तरह के ही कंकर बनाने के लिये कारखाने खुल गये। ये है निचले स्तर की बाते। ऊपर के व्यवसायियो मे ये ही सारी अनैतिकताएं अत्यधिक कुटिल व टेढी बन कर फैलती चली जाती है, जिनका आधार लाखो करोडो का शोषण व उत्पीडन बन जाता है। दुष्काल मे हजारो व्यक्ति चाहे मौत के मुंह मे चले जा रहे हो, व्यापारी अपने ही मुनाफे के बारे मे सोचता रहे। तो इस तरह की पद्धति को 'परदुखाश्रयी' ही कहा जाना चाहिये। जब यह पद्धति चलती है तो निश्चित रूप से ये कार्य वे ही करते है जो किसी भी तरह की शक्ति सम्पन्न होते है। वे अपने सुखो को बनाने के लिये इस ओर आकर्षित होते है। उसका परिणाम बहुसंख्यक अशक्तो की असह्य पीडा के रूप मे प्रकट होता है। अतः व्यक्ति अगर दूसरो के दु:खो को अपना दु:ख समझने लगे तो आज की अवस्था मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाय।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रो के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रो को अपने कब्जे मे रखना चाहते है। उनकी इच्छा

रहती है कि दूसरे राष्ट्र दु:खी हों ताकि उनकी दु:खभरी स्थिति से शोषण करके वे अपने राष्ट्रीय सुखों को बढ़ा सकें। इस तरह दूसरे के दु:ख पर अपने सुख की रचना करने की वृत्ति रखना भी दूसरे को दुःखित करने के समान ही है क्योंकि उसका अन्तिम परिणाम भी दूसरों के दुःख व पीडन में ही प्रकट होता है। सिर्फ तरीके का फर्क है—अपने सुख के लिये दूसरे को सताना प्रत्यक्ष दिखाई देता है और अपने सुख के लिये दूसरे के दु:ख की इच्छा करना परोक्ष रूप है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दुःखवाद के इस रहस्य को समझ जावे और उनके शासक अपनी नीतियाँ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगें तो कोई कारण नहीं कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशान्ति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

इस अनुभूति को जगाने की आवश्यकता है कि दूसरे को दु:ख देने के पहिले उस दुःख को अपने पर आया हुआ जान कर अनुभव करो और उसके बाद निर्णय करो कि क्या तुम्हें दूसरे को इस प्रकार दुःखित करना भी चाहिये? प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा व चेष्टा होती है कि उसे कोई दुःख न दे या उसे किसी तरह दुःखित भी न होना पड़े। किन्तु अपनी विविध प्रवृत्तियों में वह अपनी इस इच्छा को भुला देता है और किसी भी स्वार्थ के वशीभूत होकर अमानवीय क्रियाओं की ओर झुक जाता है। इस प्रकार की आत्म-विस्मृति के विरुद्ध अगर आत्मानुभव की भावना जाग सके तो मनुष्य की स्वच्छन्द गति

पर रोक लगाई जा सकती है, क्योकि उसके बाद वह अपने प्रत्येक कार्य को स्वानुभव की कसौटी पर पहले कसना चाहेगा और वैसी स्थिति मे स्वभावत ही उसकी औरो को दु:खित करने की प्रवृत्ति समाप्त होती जायगी ।

समाज की गति पारस्परिकता पर निर्भर होती है और जब यही मानवी वृत्ति व्यापक होकर समाज के विशाल आगन मे चारो ओर प्रसारित हो जायगी तो फिर सभी नागरिक अपने पारस्परिक व्यवहारो मे इसी प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत होगे । इसका निश्चय ही यह फल होगा कि कष्टो का उद्भव ही खतम होने लगेगा । एक दु ख नही देगा और दूसरे भी दु ख नहीं देगे । इस तरह ही पहले को कभी दु खो का सामना नही होगा ।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि दु ख दूर करने का यही प्रधान मार्ग है कि हम पहले किसीको दु ख देना छोड दे, क्योकि सामाजिक रचनात्मक कार्य का प्रारंभ भी व्यक्ति से ही संभव हो सकेगा । अगर प्रत्येक व्यक्ति पहले प्रारभ की अपेक्षा दूसरे से ही करता रहे तो सामाजिक कार्यो का सम्पादन दुष्कर क्या, असभव ही हो जायगा । अत सबसे पहले हम लोग यह सकल्प करे कि हम किसीको कभी किसी तरह की पीडा नही पहुंचायेगे, कभी किसीको हमसे कोई कष्ट हो जायगा तो उसके लिये प्रायश्चित्त करेगे तथा सबकी भविष्य मे सुख प्राप्ति की निरन्तर कामना करते रहेगे । जिस

प्रकार कि इस गीत मे कवि ने अपनी सहज सौजन्यभरी सद्भावना प्रकट की है —

दयामय ऐसी मति हो जाय ॥ ध्रुव ॥
औरो के सुख को सुख समझूं, परसुख का करूं उपाय।
अपने दुःख सब सहूं किन्तु, पर दुःख न देखा जाय॥दयामय०॥

हृदय मे बालक की तरह सरलता व हृदयद्रावकता पैदा हो जाय कि हे प्रभु! मुझे धन नही चाहिये, अधिकार नहीं चाहिये, न मुझे संसार का बड़े से बडा ऐश्वर्य या वैभव ही चाहिये; क्योकि इन सब की प्राप्ति अन्य प्राणियो को पीडित करने से होती है। मुझे ये सारे वैभव पहले अनेक बार मिले भी हैं, किन्तु मुझे कभी शान्ति नही मिली। हे परमात्मन्! अब आपका ज्ञानमय मार्ग मुझे मिल गया है जिसके अनुसार मुझे प्रकाश मिला है, क्योकि अब तक मैं दूसरो को दुःख दे अपने सुख की खोज कर रहा था। लेकिन अब मैं दूसरो के सुख में ही अपने सुख को देखता हूं। अपने दुःखो के लिये नहीं। अब मेरी व्यग्रता दूसरो के दुःख मिटाने के लिये है। इस प्रकार की भावना हृदय के सारे कलुष को धोकर उसे दर्पणवत् चमका कर प्रकाशित कर देगी।

ऐसी भावना का दर्शन हम मातृ-हृदय मे करते हैं। माँ बालक के सुख में ही अपना सुख मानती है, उसे दुःखी देखकर पहले खुद बेचैन हो जाती है। अगर माँ की यह प्रेममयी भावना अपने पुत्र से आगे देवर जेठ के पुत्रो के प्रति भी हो तो उसे घर

मे लक्ष्मी के समान समझा जाने लगता है तथा घर भर के लोग उसे प्रेम व आदर की दृष्टि से देखने लगते है। इससे भी आगे अगर वही सरस भावना मोहल्ले, ग्राम, समाज व राष्ट्र तक प्रसारित हो जाय तो उसे राष्ट्रीय विभूति का सम्मान मिल जाता है। इस भावना के व्यापक होने की चरम स्थिति है कि वह समस्त विश्व मे फैल जाय। सारा विश्व माँ को अपनी सन्तान की तरह लगे—ऐसी अवस्था को विश्व-मातृत्व की सर्वोच्च अवस्था कही जानी चाहिये। हमारा हृदय इसी मातृत्व की उपलब्धि की ओर बढ़े—ऐसा साधनावस्था के प्रति सबका लक्ष्य होना चाहिये। माँ मे दूसरो के सुख मे सुख तथा दु ख मे दु ख मानने की भावना का एक तरह से केन्द्रीकरण होता है, जिसका क्षेत्र अपनी सन्तान तक अक्सर सीमित रहता है किन्तु अविचल सुख प्राप्ति के लिये इसी केन्द्रीकरण को विशाल विश्व के प्रागण मे विकेन्द्रित करना पडता है। अपने हृदय मे सम्पूर्ण विश्व को समा लेना पडता है या यो समझिये कि अपने हृदय को सम्पूर्ण विश्व मे बिखेर कर घुला मिला देना पडता है। इसी विकेन्द्रीकरण की भावना से ही सच्चे सुख की लहरे उत्पन्न होती है।

महापुरुषो की महानता का यही रहस्य है। उन्होने इसी सरस भावना को अपने हृदय मे भलीभाति रमा लिया, क्योंकि इसका प्रभाव ग्राम, राष्ट्र व विश्व को भी अपनी स्वर्गीय अनुभूति प्रदान करता है। भगवान महावीर भी त्याग व तपस्या

से अपने जीवन को निखार कर जगत् के कल्याण के लिये निकल पड़े थे। तीर्थकरों की अन्य केवलियों से यही विशिष्टता होती है कि वे अपना उत्थान करके जगज्जीवों के दुःख दूर करनेके लिये सतत प्रयत्न करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का नाम भी आज तक क्यो अमिट बना हुआ है? क्या इसलिये कि वे बड़े राजपुत्र या स्वयं राजा थे? नहीं, बड़े राजाओं की इतिहास मे कमी नहीं, किन्तु उनमे एक निराली विशिष्टता थी।

राम की वह विशिष्टता हमे उनके चरित्र मे पद २ पर दिखाई देती है। जब राम विवाह कर सीता समेत अयोध्या लौट आये तो दशरथ ने पुत्र को सभी तरह योग्य देखकर स्वयं निवृत्त हो दीक्षा लेने का विचार किया। क्योंकि प्राचीन काल में लोगो को सांसारिक वासनाओं मे आसक्ति प्रगाढ़ नहीं हुआ करती थी। ज्योंही उन्हे उपयुक्त अवसर मिलता वे सहज भाव से उन्हें छोड कर आत्मोत्थान के आध्यात्मिक पथ पर चल देते थे। इस तरह महाराजा दशरथ ने भी राजसभा मे अपनी निवृत्ति व राम के राज्याभिषेक की घोषणा कर दी। वहां राम के कई सहचारी मित्र बैठे हुए थे, वे इस घोषणा से अतीव ही प्रसन्न हुए तथा राम को यह शुभ सूचना सुनाने के लिये चल पड़े। वे सोच रहे थे कि इसे सुनकर राम खूब ही प्रसन्न होंगे, मगर जिस समय वे राम के भवन मे प्रविष्ट हुए, उस समय राम विचार कर रहे थे कि पिताजी का बोझ उठाने में मेरी ही तरह तीन और भाई है, फिर क्यो जरूरी है कि मैं

ही इस वन्धन मे बंधू ? राज्य तो वे भी सभाल लेगे, मै तो सारे देश मे भ्रमण करके दु खितों की सेवा करूगा। इसी समय उन मित्रो को आनन्दित देख कर राम ने उनके इस आनन्द का कारण जानना चाहा और जब अपने ही राज्याभिषेक की घोषणा का समाचार सुना तो वे अचानक ही उदास हो गये, क्योंकि क्या तो वे सोच रहे थे और बीच ही मे यह क्या हो गया ?

राम ने उदासी से मित्रो को कहा कि मेरे लिये इससे बढ कर द ख की क्या बात होगी कि मेरे छोटे भाइयो को राज्य न देकर वह मुझे दिया जा रहा है ? इसपर मित्र हंस पड़े और कहने लगे—यह कौनसी नई बात है ? राजनीति यही कहती है कि जो बडा भाई है, वही राज्य का अधिकारी होता है। तुलसीदासजी ने भी राम के मुख से उस वक्त कहलाया है कि—

"विमल वश यह अनुचित एकू।
अनुज विहाय बड़े ह अभिषेकू॥

यह है वह निराली विशिष्टता कि राम अपना सुख नहीं बटोरना चाहते, बल्कि दूसरो के सुख की ही चिन्ता मे मग्न रहते है।

जैन रामायण के अनुसार अपने पति व पुत्र भरत को एक साथ ही दीक्षा लेते देखकर दोनों का वियोग सहन नहीं हो सकेगा—इस भावना से कैकयी ने एक ही वरदान मागा, दो नहीं, कि भरत को राज्य मिले। जैन रामायणकार ने राम

को जबरन वन भेजने मे उनके व्यक्तित्व का गौरव नहीं समझा। जब भरत के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी तो तो राम भरत को राज्य सम्हालने के लिये कहने लगे और भरत राम को ही वह पद सम्हालने के लिये। रामायणकार के शब्दो मे तब ऐसी स्थिति हो गई, जो निरपेक्षता की द्योतक है.—

> "राज्य तख्त का गेंद बनाकर, खेलन लगे खिलाड़ी।
> इधर भरत ने, उधर राम ने, दोनो ने ठोकर मारी॥
> शिक्षा दे रही जी रामायण हमको अति प्यारी॥"

गेंद का खेल भी तभी जमता है, जब कि प्रत्येक दल का खिलाड़ी उसे अपने विरोधी दल की ओर फेकता है। अगर जिसके पास गेंद आवे और वह वही गेंद पकड़ कर बैठ जाय तो कैसा खेल होगा? इसी तरह अपने स्वार्थों को जब दूसरों के स्वार्थों मे मिला दिया जायगा, तभी विश्व की विकास-गति नियमित रूप से चल सकेगी।

अपना निछावर करने मे, दे डालने मे ही सुख का निवास रहा हुआ है। राम की नीति क्या थी—बड़ा वह है जो अपने अधिकारो को छोटो को दे डालता है और उन्हे बड़ा बना देता है। आपके देश मे भी यदि 'रामराज' बनाना है तो इसी नीति की ओर ध्यान देना चाहिये। किन्तु हो क्या रहा है—सभी राजनैतिक दल सत्ता को अपने ही अधिकार मे लपेट लेने या लपेटे रखने की इच्छा करते है। जब राम की नीति को आचरण मे नहीं लाया जा रहा है तो ये दल कैसे दावा करते है

कि वे रामराज की ओर बढ रहे है ? यह तो जनता को भुलावे मे रखने की चाल मात्र है ।

इसलिये क्या तो राजनीति मे, व क्या अन्य सभी मानवीय नीतियों मे स्वार्थ-त्याग की धर्ममय नीति के प्रवेश कराने की आवश्यकता है। देश को सुखी बनाने के लिये विरोध की नहीं, मेल-जोल की जरूरत है। कई राज्यो मे देखा जाता है कि मन्त्रि-मडल बनते है और बिगडते है तथा सत्ता के लिये असन्तोष मचा रहता है। इसका मतलब है कि सभी दूसरो का हक छीन कर अपने ही आगे बढने का रास्ता बनाना चाहते है। जहां हृदयो की ऐसी संकुचितता है, वहा सुखो का द्वार नही खुलता। सुखो के लिये तो हृदयों की उदारता का त्याग के आधार पर अधिक से अधिक विस्तार होना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक नागरिक की तथा समूचे देश की सुख की राह खोली जा सकती है।

गुलिस्तां मे एक छोटा सा किस्सा है कि एक अमीर आदमी ने अपने बाए हाथ की छोटी अगुली मे सुन्दर अगूठी पहनी। उसे देखकर एक दूसरे अमीर ने उसका कारण पूछा तो उसने जवाब दिया कि दाहिना हाथ तो बडा है ही, क्योंकि वह दूसरो से हाथ मिलाता है दस्तखत करता है और दूसरे सभी मुख्य काम करता है किन्तु बांया हाथ तो अधिकतर बिना सम्मान के सेवा के कार्य ही करता है और उसमे भी छोटी अगुली को इसीलिये अगूठी पहिनाई गई है कि छोटे की व

सेवक की इज्जत बढ़ाई जाय। इसे ही वास्तव मे आज के सामाजिक जीवन मे घटाया जाय तो गरीबो का दुःख दूर किया जा सकता है।

मनुष्य जीवन की यही गौरवभरी सार्थकता है कि अपनी सारी शक्ति व प्राप्ति को व्यक्तियों के दु.खो को दूर करने मे लगा दे। सभी आत्माओ मे ईश्वरीय गुण रहा हुआ है अत अपनी सेवा द्वारा हम जितनी आत्माओ को क्लेशमुक्त करके उन्हे उस विशिष्ट गुण की ओर बढने की प्रेरणा दे सके, यही हमारे लिये सच्चे सुखानुभव का प्रमुख कारण हो सकेगा। सहानुभूति की प्रेममय भावना से दु खी व दु खार्त, दोनो के हृदयो का उत्थानात्मक जागरण होता है। क्योकि वहां पर मनुष्य निजत्व से ऊपर उठकर दु खी के हृदय मे प्रवेश करता है तथा उसका सान्निध्य उसे स्वत्व की भावना से ऊपर उठा देता है। परिणामत उसका हृदय विशालता का एक नया प्रकाश पाकर सौजन्य की ऊंची मीनार को छू लेने के लिये आतुर हो उठता है।

उदारता के साथ प्राणियों की सेवा करने तथा जगत् के दु ख मे समा कर उसे दूर करने के लिये पूर्णतया सलग्न होने मे ईश्वर व धर्म की महान् आराधना तथा आत्मा की एक दृष्टि से सर्वोच्च साधना रही हुई है।

अन्त मे मै आपको फिर याद दिलाऊं कि 'अभिनन्दन दु खनिकन्दन' है किन्तु दु खो का नाश तो तभी होगा जब

आप दुःखो का नाश करने के लिये अपने आप को तैयार कर लेगे। आप उस दोराहे पर खड़े है, जहा से एक ओर सुख के साम्राज्य की ओर पैर बढ़ाये जा सकते है तथा दूसरा रास्ता आकर्षक होते हुए भी नासमझी का व दुःखों का है। भगवान् आपको अपनी अमृतवाणी से सुखो की ओर बढ़ते रहने का संकेत कर रहे है, अब यह आप पर है कि अपने जीवन को किस दिशा की ओर आप मोड़ देते है ??

महरौली (कुतुब) देहली] [३-६-५१

: ५ :

तृष्णा वैतरणी नदी

: ५ :

तृष्णा वैतरणी नदी

श्री जिनराज सुपार्श्व पूरो आस हमारी......

जगत् का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म से किन्हीं आशाओं, इच्छाओं या वासनाओं को पालता-पोसता है तथा जीवन भर उनकी पूर्ति-हित संघर्ष करता रहता है। यह संघर्ष का क्रम उसके जीवन भर तक इसलिये चलता रहता है कि ज्यों २ किन्हीं इच्छाओं की पूर्ति होती जाती है, उनके स्थान पर अगणित इच्छाएं अधिक उत्पन्न हो जाती हैं और इस प्रकार जिन अंशों में मानव अपने अथक परिश्रम से सुलझनें उपस्थित करता है, उससे कई गुण उसके बाद अधिक उलझन में जकड़ता चला जाता है। अतः मनुष्य का इच्छाओं के पीछे भागना मृत्यु तक समाप्त नहीं हो पाता। मेरे इस कथन के साथ ही आपको आश्चर्य होगा कि कवि विनयचन्द जी न जाने कैसी आशा के लिये भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं!

पहले कि मैं कविजी के आशय को स्पष्ट करूं, यह बता दूं कि आजकल आशापूर्ति की कुश्ती का अखाड़ा सांसारिक क्षेत्र ही नहीं, अपितु धार्मिक क्षेत्र भी है। इस वृत्ति से यह क्षेत्र भी दूषित हो रहा है। सांसारिक क्षेत्र मे तो अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिये अच्छे बुरे सभी तरह के साधनो को निर्भयता-पूर्वक उपयोग मे लाया जाता है, किन्तु धार्मिक क्रियाओ के पीछे भी आजकल वासनापूर्ति का लक्ष्य रखा जाने लगा है। कवि विनयचन्द जी हमारे जैसे इच्छाओं के गुलाम नहीं थे। वे धार्मिक क्षेत्र की पवित्रता को भलीभाँति समझते थे तथा इसीलिये इस पद मे भगवान् से आशापूर्ति की जो उन्होंने प्रार्थना की है, वह किसी सांसारिक वासना का रूप नहीं, किन्तु इसमे उनके द्वारा हृदय की वह पुनीत अभिलाषा व्यक्त की गई है; जो प्रत्येक प्राणी के लिये कल्याणकारी है— संसार के भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने की आशा को हे भगवान्! आप अपनी परम कृपा से शीघ्र पूरी करे।

परन्तु आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की यह आशा, आकांक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिये, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आजतक नहीं देखा गया। यह सत्य है कि अपनी वासनापूर्ति हित भागने की मनोवृत्ति मनुष्य मे अज्ञातकाल से है, किन्तु आजकी उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन में भीषण उथल-पुथल मचा दी है। इसका कारण यह है कि आजकी इच्छाओ ने व्यक्तिगत से

सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिये पूर्ति के साधनों में भी सामूहिकता का भाव आने से उसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ गई है। लेकिन यह 'सामूहिकता' व्यापक सामूहिकता नहीं, किन्तु कुछ शक्ति-सम्पन्नों की सामूहिकता है, जो अपने मानवता-घातक संगठनों द्वारा अशक्त विशाल जन समाज का क्रूर शोषण करवाती है। धार्मिक दृष्टिकोण से यदि सोचा जाय तो इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही में जाना जा सकता है।

कहा गया है—"तृष्णा वैतरणी नदी"—अर्थात् तृष्णा की वैतरणी नदी से समानता की गई है तथा कथा-साहित्य में वैतरणी नदी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—यह बहुत सुन्दर व बडी नदी है, इसका कहीं अन्त ही नहीं आता, किन्तु इसके जल का संस्पर्श देह के टुकड़े २ कर डालने वाला होता है। तृष्णा भी प्रतीत होने में लुभावनी मालूम होती है। मनुष्य इसके पागलपन में अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन शान्ति में अशान्ति के भीषण अन्धड आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशान्त नहीं बनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक पर एक तृष्णाएं उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरा से बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है। वर्तमान युद्धों की विनाशकारी संहारक—अणु बम कॉस्मिक रेज, हाइड्रोजन बम आदि इस

तृष्णा वृद्धि व पूर्ति हित जोड़े जाने वाले विषमय साधन हैं। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ कि तृष्णा का यह जहर आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी काम कर रहा है। यही कारण है कि व्यवहार मे धार्मिक चिन्तन एवं क्रियाएं करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशापूर्ति के नवीन २ उपायो की खोज करता रहता है।

मैंने कई बार देखा है, कई भाई आते है और कहते है—महाराज! मंगलिक सुना दीजिये, मैं बाहर व्यापार करने के लिये जा रहा हूँ। मुझे समझ मे नही आता कि वे मगलिक द्वारा व्यापार मे भरपूर लाभ चाहते है और वह लाभ प्राप्त करने मे वे चाहे जो तौरतरीके काम मे लावे। एक भाई किस्सा सुना रहे थे कि कई व्यक्तियो को उन्होंने कहते सुना है कि दिन मे एक सामयिक करके वे इतने सन्तुष्ट हो जाते हैं कि परलोक का वैभव पूरी तरह सुसज्जित समझ लेते हैं और इस भव मे फिर दुकान पर 'कुछ भी' करने मे कतई घबराना नहीं चाहते है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक क्रियाओं मे वास्तव में जो सात्विक और शुद्ध मनोवृत्ति होनी चाहिये, उसका स्थान तृष्णा ने ले लिया है। अत उसका नतीजा यह हुआ है कि धार्मिक क्रियाएं भावहीन व थोथे रूप मे रह गई है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण मैं बताना चाहता हूँ कि सांसारिक व धार्मिक दोनों क्षेत्रों मे दरिद्रता घर कर गई है। इस दरिद्रता मे आज मानवता पिसा रही है और

पशुता का नंगा नाच हो रहा है। भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता बता रही है कि किस प्रकार गरीब को खाने, पहिनने और रहने के न्यूनतम साधनों से भी महरूम रहना पड़ता है और उसे जगह २ ऊपर से परेशानियाँ भुगतनी पड़ती हैं। रिश्वत, गुलामी, खुशामद, अपनी मानवता—इज्जत, सब को लुटाते हुए भी ये नंगे बदन और आधे पेट रहते हैं। न कानून से इनकी रक्षा हो सकती है और न कांग्रेस जैसी संस्था के शासन से इनकी अवस्था में कोई अभिवांछित परिवर्तन हो सका है। पूंजीवादी राज के वर्तमान न्यायालय तो गरीबों के धन और जीवन को चूसने की दुहरी छूट देते हैं। साहूकार, मिलमालिक, वकील, जागीरदार—सभी गरीबों को चूसने वाली जोंकें हैं। वे संसार के लिये पिसते हैं, किन्तु फिर भी निराश, निरीह और निर्वाहहीन ही रह जाते हैं। धार्मिक दरिद्रता का वर्णन तो इससे भी अधिक चौंका देनेवाला है। आन्तरिकता के अभाव में धर्म को एक ऐसा शस्त्र बना लिया गया है, जिसके नाम पर बहुसंख्यक अशक्त जनता को उल्लू बनाया जा सकता है और जिसकी ओट में प्रवञ्चना, हत्या, चोरी, हिंसा व सब बुराइयों के नाटक मजे से खेले जा सकते हैं और यह सब कुछ करते हैं धर्मज्ञ कहलाते हुए।

अतः इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि इस दरिद्रता व दुःख का मूल कारण तृष्णा ही है जिसकी गुलामी आत्महित

व परहितघातक है। किन्तु इसके विपरीत तृष्णा को जो अपनी दासी बना लेता है, ससार उसका दास हो जाता है।

आशायाः ये दासास्ते, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषा दासी, तेषा दासायते विश्वम्॥

इस प्रकार कवि की अन्तर्भावना मे और सासारिक प्राणियों की मनोवृत्ति मे यही अन्तर है कि जहां कवि आशा पर विजय प्राप्त करना चाहता है, वहां सासारिक प्राणी आशाओ के दास होकर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही मे उसके पीछे भाग कर विनष्ट कर डालते है। आशा पर विजय मनुष्य को प्रगति के प्रकाशमय पथ की ओर उन्मुख करती है तो आशा की दासता उसे पग २ पर भयंकर ठोकरे खाने को विवश करती है। तृष्णा के जाल मे आबद्ध व्यक्ति वास्तविक शान्ति का रसास्वादन नहीं कर सकता। इसके बारे मे एक दृष्टान्त दिया जाता है कि एक गरीब व्यक्ति को एक सन्त ने क्रमश १, १०, १०० १००० रुपये नित्य प्राप्त होने का वरदान दिया। अब ज्यों २ उस व्यक्ति के पास सम्पत्ति की वृद्धि होती गई, वह अधिक से अधिक अशान्त होता चला गया। क्योंकि पहले वह निर्वाह के न्यूनतम साधनो मे भी एक सन्तोष की भावना लेकर चलता था किन्तु अब ज्यो २ उसकी आय बढ़ती गई, उसकी आवश्यकताओ व इच्छाओ का सन्सार भी बढ़ता चला गया। सुन्दर भोजन, कीमती वस्त्राभूषण व विशाल निवास

स्थान हो जाने पर भी उसकी तृष्णा नये २ पदार्थों के लिये बढ़ती ही गई और उसका जीवन दुःखमय हो गया।

सार यह है कि सुख और दुःख का निवास तृष्णा की विजय वा उसकी दासता पर निर्भर है। सत्य अर्थ मे पदार्थों के अभाव का सद्भाव दुःख सुख का वाहक नही। अपनी आवश्यकताओं का ससार जितना अधिक सीमित होगा, उतने ही अशों मे हमारा जीवन भी शान्तिमय हो सकता है। लंगोटी वाले बाबाजी की कहानी प्रसिद्ध है, ज्यो २ उनकी तृष्णा बढती गई, उनका जजाल भी बढता गया और जजाल बढना अशान्ति का प्रधान कारण है ही। इसी कारण भगवान महावीर ने फरमाया है—"आशा की ज्वाला इतनी तीक्ष्ण है कि उसकी ओर झुकाव होते ही मानव उसकी लपटो से झुलसने लगता है और अन्त मे अपनी चेतना को भस्मीभूत करता हुआ अपने को पतन के गड्ढे की ओर ले जाता है। इसके विपरीत अपने जीवन मे सच्ची सफलता वही प्राप्त करता है जो तृष्णा का वशवर्ती न होकर सन्तोष के पथ पर गमन करता है। सत्य यही है कि आशा पर विजय प्राप्त करने से ही मानव की आशा पूर्ण हो सकती है और इसीसे उसे पूर्ण शान्ति भी प्राप्त हो सकती है।

आज जगत् मे फैली हुई दरिद्रता भी तृष्णा-परित्याग से हटाई जा सकती है। जहा देश के लाखो मनुष्य अन्न के एक २ दाने के लिये तडपते हो, वहा पूंजीपति अपने ऐशो-आराम मे

रंगीन जिन्दगियाँ बिता रहे हों—यह अतीव लज्जा का विषय है। इसी मे उनका कल्याण है कि पूंजीपति ऐसे समय मे स्वेच्छापूर्वक धार्मिक गरीबी—आशात्याग के पथ को स्वीकार करे, जिसका अर्थ यह है कि वे अपने विलासी जीवन से अलग होकर अपनी शक्ति और अपने साधन अपने साधनहीन भाइयों की सेवा मे प्रस्तुत करे। तृष्णा का त्याग करके सादगी को धारण करने के कारण जिस देश की प्रतिष्ठा थी, (Simple living and high thinking) 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त का अनुकरण करने मे जो देश अपना विशिष्ट गौरव समझता था, आज वही देश तृष्णा के नरक कुंड मे गिर कर अपने विनाश की कब्र अपने ही हाथों खोद रहा है? किन्तु इसका उत्तर आध्यात्मवाद देता है और वह यह है कि इस जीवन और उसकी प्रत्येक शक्ति से शोषित, दलित और पतित समाज की शुभ भावपूर्वक हर तरह से सेवा की जाय। इसीमे जीवन की सार्थकता व सरसता भी रही हुई है। इस सिद्धान्त से अध्यात्मवाद आनेवाली उस महान विस्फोट को रोकना चाहता है, जो शोषण, अत्याचार और अन्याय से पीड़ित जन-समाज के भीषण कोप से प्रज्वलित हो कभी भी धू धू करके जल सकती है।

जैन संस्कृति ने कई महान विभूतियों को जन्म दिया है, जिन्होंने विश्व की जन-चेतना को उद्बोधित कर एक नये जीवन के नये आदर्श को उपस्थित किया। भगवान महावीर का

आदर्श जीवन आज के विलासितापूर्ण युग मे भी हमे त्याग का मार्ग दिखा रहा है। उनकी अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति और राज वैभव के त्याग से सनी हुई ओजस्वी वाणी, जिसने दलित, पीडित और शोषित समाज मे शान्ति का प्रादुर्भाव किया, आज भी भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र मे गूज कर भव्य प्रेरणा प्रदान कर रही है।

"सुवण्णरूपस्स उपव्व या भवे,
सिया हु केलाससमा असंख्या।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥"
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ६ गा० ४८)

मनुष्य को धन, वैभव और विलासिता के सम्पन्नतम साधन उपलब्ध होने पर भी उसकी आशा की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। चाहे कैलाश पर्वत के समान असख्य स्वर्ण पर्वत भी प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णातुर व धनलिप्सु मानव क्या सन्तोष की सीमा तक पहुच सकता है? जबतक मानव के मानस मे इस भावना का कि "अन्य परमाणु मात्र पर मेरा अधिकार नहीं है अर्थात् आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त ससार मे रहा हुआ एक भी परमाणु मेरा नहीं है" जन्म नहीं होगा, तब तक मानव जीवन मे सुख की कल्पना आकाश कुसुमवत रहकर ही परिलक्षित होती रहेगी।

आज कई विवेकशील व्यक्ति भी परिवार-निर्वाह को आशा त्याग का बाधक समझते हैं किन्तु यह एक भ्रममूलक विचार है। उच्च वर्ग मे परिवार का जो गठन है, वह एक अस्वाभाविक ढंग पर बना हुआ है और परिणामस्वरूप परिवारके कई सदस्य परावलम्बी रहते हैं। इस परावलम्बन मे सारे परिवार का जीवन नष्ट हो जाता है, क्योंकि जिस पर सारे परिवार के निर्वाह का भार होता है, वह तो दबता ही है किन्तु जो उसके आश्रित होते हैं, उनमे भी स्वशक्ति का ह्रास होता जाता है। मजदूर वर्ग की तरह आज सबके परिवार क्यों न बने, जो आर्थिक दृष्टिकोण से पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। बारह आने की पूणियों का व्यापार करके पूणिया श्रावक को जो आत्मशक्ति और सन्तोष की प्राप्ति होती थी उसे विलासी और वैभव का स्वामी महाराजा श्रेणिक क्या समझ सकता था? स्वावलम्बन का सुख कुछ निराला ही होता है। भगवान महावीर ने भी पूणिया श्रावक की प्रशंसा करते हुए महाराजा श्रेणिक को समझाया कि महान् स्वर्णराशि से पूर्ण तुम्हारे कोष पूणिया श्रावक के जीवन की दलाली मे भी पूरे नहीं होते। उसका मूल्य चुकाने के लिये तो परिवार व शरीर के मोह तथा तृष्णा की ज्वाला से दूर होने की आवश्यकता है। अपने जीवन मे स्वावलम्बी बन कर तृष्णा से युद्ध करने वाला व्यक्ति ही जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

स्वेच्छा पूर्वक तृष्णा का त्याग करके सादगी को अपनाने वाला ही महापराक्रमी होता है। प्राप्त साधनो का व्यापक लोकहित के लिये परित्याग कर देने मे ही त्याग की वास्तविक महत्ता रही हुई है। जो व्यक्ति निर्भयता पूर्वक संसार की किसी भी कठोरतम शक्ति का सफलता पूर्वक प्रतिरोध कर सकता है वही धर्म के आन्तरिक रहस्य को भी प्रकाशित करने मे सफलीभूत हो सकता है। बाह्य शक्ति व शरीर बल के आश्रय मे ऐठने वाला व्यक्ति ऐसे प्रहारों के सामने अपने घुटने टेक देता है। अर्जुनमाली के कठोर एवं तीक्ष्ण प्रहारो से भयभीत होकर ही महाराज श्रेणिक ने नगर द्वार बन्द करवाये थे किन्तु तृष्णा के विजेता व आत्मशक्ति के स्रोत सुदर्शन सेठ ने उस राक्षसी वृत्ति को परास्त कर दिया। अत तृष्णा का त्याग ही वीर मानव का भोजन है, परमात्मा का प्रसाद है तथा आध्यात्म धर्म का प्रमुख आधार।

आज विश्व को भौतिकवादी क्रूरता से मुक्त होने के लिये तृष्णा त्याग, मानव-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है, जो मानव समाज मे समता व बन्धुता का वातावरण प्रसारित कर सके। गरीब और धनवान् का आर्थिक भेद भी विनष्ट होकर संसार की अन्य सभी विषमताए भी दूर हो सके।

कवि भी उक्त पद्य मे यही प्रार्थना करता है कि—'हे प्रभो' मेरी यह आशा पूर्ण हो कि मै तृष्णा पर विजय प्राप्त कर सकूं। यदि हम भी सहृदयता से इसी तरह प्रार्थना करेंगे तो हमारी

भी आशा पूर्ण हो सकती है। अन्त मे यही कहना चाहता हूं कि तृष्णा का त्याग करके सादगीपूर्ण तथा आध्यात्मिक जीवन को अपनाने से ही हमारे देश व मानव समाज की आर्थिक व अन्य क्षेत्रीय दरिद्रताओं का विनाश सहज ही मे हो सकता है।

: ६ :

धर्म और समाज में नारी

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी. . . .

नारी और पुरुष एक ही रचना के दो रूप हैं, अत दोनों की आन्तरिक प्रतिभा और विकास की क्षमता मे प्राय कोई अन्तर नही होता। दोनो जीवन मे एक दूसरे के पूरक हैं और साथ साथ आगे बढने वाले जीवन साथी हैं। अत जो शक्ति सचय का सामर्थ्य, उन्नति का उत्साह तथा साध्य-प्राप्ति की योग्यता पुरुष मे है, वही सब कुछ नारी मे भी है। उपमा दी जाती है नारी और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिये हैं। रथ मे यदि एक पहिया छोटा और दूसरा बडा है या एक पहिया कमजोर या दूसरा मजबूत है तो रथ विशेष नही चल सकता। इसी तरह समाज की स्वस्थ गति के लिये भी नारी और पुरुष की समानता आवश्यक है। यहा कवि विनयचन्द जी भगवान मल्लिनाथ की प्रार्थना करते हुए कहते है कि भगवान मल्लिनाथ

का जीवन नारी की पूर्णता का सजीव उदाहरण है। आत्म-विकास की उच्चतम श्रेणियों मे पहुंच कर मुक्ति की मंजिल मे प्रवेश करने वाले भगवान् मल्लिनाथ ने यह दिखा दिया कि नारी भी जीवन के चरम विकास को प्राप्त कर सकती है और जो यह कहते है कि पुरुष के समक्ष नारी अबला है और प्रगति की दौड मे उसके साथ नही ठहर सकती, उन्हे इस उदाहरण से यह समझ लेना चाहिये कि उनका कथन कितना भ्रान्तिपूर्ण है। वे नारी के तेज को पहिचानने मे कितने अज्ञान रहे है?

जैनधर्म अपने सिद्धान्तों के मूल से ही एक प्रगतिशील दर्शन रहा है और यह गौरव के साथ कहा जा सकता है कि इसने नारी के यथोचित सम्मान को बराबर निभाया है। गुण विकास के सिवाय भेदभाव का कोई दृष्टिकोण जैनधर्म मे कभी भी नही रहा। जैनधर्म जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसी संकुचित विचार-प्रणालियों से तो कतई अलग रहा ही है, परन्तु लिंग भेदभाव का अभाव इसकी अन्य बड़ी विशेषता है। धार्मिक क्षेत्र मे नारी का नारी होने के नाते कोई अन्तर नही है। संघ मे भी नारी को समान स्थान प्रदान किया गया है—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका। एक साध्वी सभी श्रावक और श्राविकाओं द्वारा वन्दनीय होती है तथा साध्वी सभाओं मे व्याख्यान देकर धर्म-प्रचार करती है। कठिन ब्रह्मचर्य और आत्मसंयमादि तपरूप धर्म को पुरुष की तरह पालन करती है। साधारण रूप से नारी और पुरुष की शक्तियां समान मानी

गई है और दोनों को ऊंचा से ऊँचा उद्देश्य प्राप्त हो सकता है। परन्तु जैन समाज मे एक वर्ग ऐसा भी है जो नारी को मुक्ति-गामिनी नही मानता है। वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सहज ही यह स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि नारी को मुक्ति-गामिनी नहीं मानने वाले वर्ग ने स्त्रियो पर द्वेष करने के कारण नही, बल्कि मानसिक कल्पना का पोषण करने के लिये हठाग्रह करने से ही ऐसी मान्यता कायम की है कि स्त्री को मोक्ष नहीं मिलता, क्योकि वे वस्त्र नही त्याग नही सकती और मोक्ष प्राप्त करने के लिये वस्त्र-त्याग अनिवार्य है, क्योंकि जो वस्त्र नही त्यागता, वह निष्परिग्रही नही बन सकता एवं जो निष्परि-ग्रही नही, वह संयम व्रत का पालन नहीं कर सकता। इसीलिये असंयमी ही रहने के कारण स्त्री को मोक्ष नही हो सकता। उस वर्ग द्वारा एकान्त रूप से ऐसी मान्यता मानना शास्त्र-सम्मत नही कहा जा सकता। महावीर स्वामी के समय मे भी यह सिद्धान्त था कि वस्त्रत्यागी और वस्त्रधारी दोनों ही मोक्ष-पद के अधिकारी हो सकते हैं। वस्त्रत्यागी साधु 'जिन-कल्पी' तथा वस्त्रधारी साधु 'स्थविरकल्पी' कहलावेगा। जिन-कल्पियो के आचार-विचार मे नगर मे रहना, अधिक बोलना, उपदेश देना, शिष्य करना आदि निषिद्ध है, वे केवल आत्म-ध्यान में ही तल्लीन रहे। स्थविरकल्पियो के लिये ये सब द्वार खुले है। यह नियम बहुत पुराने समय से चला आ रहा है, किन्तु महावीर स्वामी के करीब ६०९ वर्ष बाद इस नवीन वर्ग

का जीवन नारी की पूर्णता का सजीव उदाहरण है। आत्म-विकास की उच्चतम श्रेणियों में पहुँच कर मुक्ति की मंजिल में प्रवेश करने वाले भगवान् मल्लिनाथ ने यह दिखा दिया कि नारी भी जीवन के चरम विकास को प्राप्त कर सकती है और जो यह कहते हैं कि पुरुष के समक्ष नारी अबला है और प्रगति की दौड़ में उसके साथ नहीं ठहर सकती, उन्हें इस उदाहरण से यह समझ लेना चाहिये कि उनका कथन कितना भ्रान्तिपूर्ण है। वे नारी के तेज को पहिचानने में कितने अज्ञान रहे हैं ?

जैनधर्म अपने सिद्धान्तों के मूल से ही एक प्रगतिशील दर्शन रहा है और यह गौरव के साथ कहा जा सकता है कि इसने नारी के यथोचित सम्मान को बराबर निभाया है। गुण विकास के सिवाय भेदभाव का कोई दृष्टिकोण जैनधर्म में कभी भी नहीं रहा। जैनधर्म जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसी संकुचित विचार-प्रणालियों से तो कतई अलग रहा ही है, परन्तु लिंगी भेदभाव का अभाव इसकी अन्य बड़ी विशेषता है। धार्मिक क्षेत्र में नारी का नारी होने के नाते कोई अन्तर नहीं है। संघ में भी नारी को समान स्थान प्रदान किया गया है—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका। एक साध्वी सभी श्रावक और श्राविकाओं द्वारा वन्दनीय होती है तथा साध्वी सभाओं में व्याख्यान देकर धर्म-प्रचार करती है। कठिन व्रत तप और आत्मसंयमादि तदनुरूप धर्म को पुरुष की तरह पालन करती है। सामान्य रूप से नारी और पुरुष की शक्तियाँ समान मानी

का जन्म हुआ। इसके सम्बन्ध मे एक कथा भी प्रसिद्ध है कि एक क्षत्रिय को युद्ध मे शानदार विजय प्राप्त करने के उपलक्ष मे राज्य की ओर से पूर्ण स्वाधीनता दी गई। वह कुछ भी करे—उसके लिये कोई प्रतिबन्ध न था। परिणाम यह हुआ कि वह अत्यधिक स्वच्छन्द हो गया और व्यभिचारादि दुर्व्यसनों मे बुरी तरह फंस गया। हमेशा रात को बडी देर के बाद घर लौटता। परन्तु उसकी पत्नी बड़ी ही पतिव्रता थी। पति को खिलाने पर खाती और सुलाने पर सोती, सुबह जल्दी उठ कर गृह कार्य करती। इस अनियमितता से उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। यह देख उसकी सासु ने इसका कारण पूछा। उसने इतना ही कहा कि उनके कारण होने वाली अनियमितता का यह नतीजा है। माँ ने देखा कि उसका पुत्र गलत रास्ते पर जा रहा है। उस दिन उसने घर का दरवाजा बन्द कर दिया एवं स्वयं वहां बैठ गई। जब वह देर से आया तो माँ ने बुरी तरह फटकारा तथा वहां कहीं चले जाने को कहा, जहां इतनी रात तक भी दरवाजे खुले रहते हों। पुत्र भी हठी व अभिमानी क्षत्रिय था। लज्जा के मारे मुंह भी न दिखा सका और वहां से उल्टे पांव लौट गया।

अचानक उसे एक कुटिया दिखाई दी, जिसका दरवाजा उस समय भी खुला हुआ था। वहां उसे एक महात्मा के दर्शन हुए और उपदेश सुनकर वह उनके पास दीक्षित हो गया। वह बड़ा प्रतिभाशाली और विद्वान मुनि हो गया। एक बार

परिग्रह ममत्व में होता है, वस्तुविशेष तो उसका निमित्त मात्र होती है। लंगोटी वाले बाबाजी की कहानी प्रसिद्ध है। एक लंगोटी परिग्रह का रूप हो सकती है, वहाँ असंख्य धनराशि व षट्खंड के अधिपति होने पर भी भरत महाराज को उसमें ममत्व बुद्धि नहीं होने से उन पर परिग्रहत्व का बोझ नहीं था। कहा है—'परिगृह्यते इति परिग्रहः''। ठाणांग सूत्र में तीन प्रकार के परिग्रह बतलाये हैं—१ कर्म परिग्रह, २ शरीर परिग्रह ३ उपाधि-परिग्रह। समय २ पर किये हुए शुभाशुभ संस्कारों

उनका सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता और यह पहिले ही कहा जा चुका है कि उस अभ्युदय के पुरुष और नारी समान अंग हैं। एक अंग के सहयोग के अभाव में कार्य का पूर्णतया प्रतिपादन हो सके—इसमें आश्चर्य ही क्या ?

प्राचीन काल में नारी के सम्मान व स्थान पर एक नजर दौड़ायेंगे तो स्पष्ट विदित होगा कि आज हम इस मामले में कितने गिर चुके हैं ? देवनागरी लिपि का मूल नाम ब्राह्मी लिपि था। यह नाम भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के पीछे पड़ा,

सोहन पालणे वालो झूले झोलत झोलत नोली यूं।
उतरी वेग हिलाज्जे रे भरती, जिलगां मैं थने झोला यूं।

ऐसे ही बालक, जिनके बाल हृदय वीरता से कूट कूट कर भरे गये हैं, राणा प्रताप, शिवाजी और दुर्गादास होते हैं। यही वीरता [illegible] क्षेत्रों मे जटिल त्याग और जीवन की ज्योति के

जाता। इसी प्रकार अन्य कई ऐसी भीषण कुरीतियां हैं, जो नारी जीवन मे तरह तरह की बुराइयां पैदा करती हैं। आज समय की पुकार है कि बहने अपने तेज और अपनी अद्भुत शक्ति को समझें और अपने आपके जीवन को उन्नत तथा समाज के लिये हितकारी बनाये। वे याद करें - उस नारी कन्या को—जिसने अपने पति चूडावत सरदार को [illegible] उज्ज्वल चरित्र की निशानी अपना सिर काट कर दिया। वे याद करें—उस पद्मिनी को, जिसने अपनी [illegible] बजाय जौहर की जगमगाती ज्वाला मे [illegible] पसन्द किया। वे याद करें - उन सीताओं [illegible] चरित्र को—जिन्होंने भीषण विपत्तियों [illegible]

दिशा मे वे अपने आपको मोडे। आधुनिक शिक्षा भी लडकियो मे कुछ ऐसे उच्छृंखलता व विलासिता के भाव भरती है। अपना जीवन सुधारने की अपेक्षा वे अपने आपको बुराइयो की अधिक उलझनो मे ही फसा डालती है। अत. समाज का पूरा विकास तभी होगा जब सुशिक्षा और सच्चे संस्कारों के द्वारा समाज का यह आधा अग विकसित हो जायगा।

मन्दसौर (मालवा),] [१०-६-४८

: ७ :

जीवन के दो पक्ष : भावना और व्यवहार

है परन्तु उसके साधनों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमें गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करें ताकि हमें अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

कवि धेराम प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है कि भगवान! तुम अन्तर्यामी हो मेरे हृदयरूप विचारों को

बन जाता है। महान् विभूतियों के उदाहरण ही हमें हमारे विकास के मार्ग को अधिक स्पष्टता से समझने में सहायता देते हैं। श्रेयांस प्रभु के आदर्श को इसी कारण कवि अपने उद्गारों के साथ मिलाते हैं।

परन्तु सांसारिक प्राणी अधिकतया आत्मगामी होने की अपेक्षा इन्द्रियगामी होते हैं। इन्द्रियगामिता ही भौतिकवाद को बढ़ावा देती है, जिसके कारण अपकार [illegible] और [illegible] साहित्य देखने को मिलते हैं। [illegible] पतन [illegible] होता है और पूजापाठ आदि स्थितियों से समाजच्युत हो जाता है। [illegible] की भावनाओं का ह्रास होता है और व्यवहार में [illegible] का ऐसा दुर्बलता दौर चलता है, जिसमें [illegible]

है, परन्तु उसके साधनों मे विभिन्न परिवर्तन होते रहते है। इसी बात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमे गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करे ताकि हमे अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

कवि श्रेयास-प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है कि भगवन्! तुम अन्तरयामी हो—सबके हृदयस्थ विचारो को बिना प्रकटीकरण के ही जान लेते हो और आत्मगामी-आत्म भावों मे रमण करने वाले हो। यह अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्मा को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है। अपने आत्मभावों मे रमण करने मे निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तरशक्ति की अद्भुत प्रेरणा से उसमे ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है ऐसा ज्ञान और क्रिया का सम्मिलन हो जाता है कि फिर उसके मार्ग की बाधाए नष्टप्राय' हो जाती है। आत्म गामी होने से अपने जीवन का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके सचालन का ऐसा दृढ़ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओं के मनोभावों और प्रवृत्तियों को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभव ही यथार्थत किसी भी क्षेत्र की गहराई को पहिचानने की कसौटी का काम करता है और इसी तरह आत्मसाधना की परिपक्वता के फलस्वरूप आत्मा आत्मगामी से अन्तरयामी

बन जाता है। महान् विभूतियों के उदाहरण ही हमे हमारे विकास के मार्ग को अधिक स्पष्टता से समझने मे सहायता देते है। श्रेयांस प्रभु के आदर्श को इसी कारण कवि अपने उद्गारो के साथ मिलाते है।

परन्तु सासारिक प्राणी अधिकतया आत्मरामी होने की अपेक्षा इन्द्रियरामी होते है। इन्द्रियरामिता ही भौतिकवाद को बढ़ावा देती है, जिसके कारण भयंकर युद्ध और उसके भीषण तांडव देखने को मिलते है। नैतिक पतन इससे होता है और पूंजीवाद आदि स्थितियों से समाज रुग्ण हो जाता है। मानवता की भावनाओं का ह्रास होता है और संसार मे स्वार्थान्धता का ऐसा दर्दनाक दौर चलता है, जिसमें युग युगान्तर से निर्मित सभ्यताएं और संस्कृतियाँ धूमिल हो जाती है। सांसारिक व्यक्तियों की इस इन्द्रियरामिता—बाह्य सुखों में मूर्च्छित होने के दृष्टिकोण पर नियंत्रण होने से ही संसार की नियमित प्रगतिशीलता बराबर बनी रह सकती है। बाह्य सुख, जो केवल सुखाभास है, आत्मा को इस प्रकार प्रवंचित कर देता है कि उसे अन्तर की दिव्यता के समीप नही जाने देता। परन्तु मुनि लोग इस रहस्य को समझते है और आत्मरामी बनने के प्रयास की ओर जुट पडते है। वास्तव में मुनि भी वही है, जो बाह्य सुख के नग्न दुःख को समझे और आत्मरामिता के सनातन सुख की शोध मे अपना सब कुछ न्योछावर करते हुए अविराम गति से कदम बढ़ा सके। मुनि, बाहर से देखने को सांसारिक

प्राणियों के अनुसार ही खाते, सुनते, देखते और उसी प्रकार सभी इन्द्रियों का उपयोग करते है परन्तु उनकी आत्मा इन सबसे दूर निजत्व के विशाल रहस्य को समझने मे लगी रहती है; क्योंकि इन्द्रियों के उपयोग मे भी उनका यही लक्ष्य बना रहता है कि यह उपयोग उनकी साध्य प्राप्ति में ही योग दे रहा है। इन्द्रिय सुख को वे त्याज्य समझते है। यही अन्तर होता है मुनि और साधारण सांसारिक प्राणी मे।

इस सारे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन रूपी साधन को इस प्रकार की दिशा की ओर मोड़ने में ही उसकी सफलता रही हुई है कि वह मुक्ति रूपी साध्य को प्राप्त कर सके। प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टिकोण से अपनाई जाय कि इससे आत्मस्वरूप को समझनेमे सफलता होगी। आत्मगामिता की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा एव ऐसी क्रिया ही अध्यात्म क्रिया कहलाती है। क्रिया का यही आन्तरिक रूप आत्मा को मुक्ति की राह की ओर ले जाता है व जीवन को तपे सोने का सा निखार कर उसे पूर्ण उज्ज्वलता प्रदान करता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि मुनि बनने से मुनिवेश ग्रहण करने का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि बिना आत्मा का भान किये यदि कैसी भी कठिन क्रिया की जाती है तो वह अन्ततः निष्प्रयोजन ही रहती है। यही कारण है कि आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाली क्रिया को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। कवि विनयचन्द जी भी कहते हैं—

नाम अध्यात्म, ठवण अध्यात्म, द्रव्य अध्योतम छंडो रे...
भाव अध्यात्म निज गुण साधे, तो तेहशूं रट मंडो रे..

तात्पर्य यह है कि अध्यात्म के नाम, स्थापना या द्रव्यरूपता से कोई सार नही निकलता। नाम से कोई मुनि कहलाता हो, पर मुनि भाव यदि उसमे लेशमात्र नही है या नाम से ब्रह्मचारी कहलाता हो, पर ब्रह्मचर्य का पालन न करता हो तो उस नाम से क्या? वह तो कतई व्यर्थ है। इसी प्रकार अध्यात्मवाद से सम्बन्धित कोई साहित्य लिखे व पढ़े, किन्तु उसे आत्मगामी न बनावे तो केवल स्थापना मात्र से किसी आत्मा का कल्याण नही हो सकता। न द्रव्यरूप से साधुवेश ग्रहण कर लेने का ही कोई मूल्य है, जिसे उस वेश की महत्ता का कोई खयाल नही है। अर्थात् अध्यात्मवाद के ये सभी वाह्य रूप है अतः वाह्य रूप का तवतक कोई उपयोग नही हो सकता, जवतक उनके साथ उसका अन्तर रूप विकसित अवस्था में न हो। वाह्य रूप तो अन्तर रूप को प्रकट करने और उसे बनाये रखने में सहायता मात्र करता है। सत्य तो यह है कि भाव अध्यात्मवाद का रहस्य ही आत्मा को सच्चे सौन्दर्य से सुशोभित कर सकता है। एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि आन्तरिकता की नीव पर बनाया हुआ महल वाह्य रूप है। महल दिखाई देता है, नीव छिपी हुई रहती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि महल ही सब कुछ है, नीव का कोई महत्त्व नही। बल्कि यह कहा जा सकता है कि महल का अस्तित्व

नींव पर टिका है। नीव जबतक मजबूत है, महल बना हुआ है और जिस क्षण नींव हिली कि महल गिरा। अत महल का अस्तित्व नींव के अस्तित्व पर टिका है। इसी प्रकार बाह्य रूप आन्तरिकता की वर्तमानता मे ही स्थितिशील व उपयोगी होता है। इसके साथ ही यह तथ्य भी हमे समझ लेना चाहिये कि नींव की स्थिति का ज्ञान भी हमको महल से होता है। महल की कैसी मजबूती है, उसीके आधार पर नीव की मजबूती का अनुमान लगाया जाता है, क्योंकि नीव तो दिखाई नही देती। अत. साधारण रूप से अन्तर की गहराई बाह्य से अनुमानित की जा सकती है।

अन्तर और बाह्य—ये ही जीवन के दो पक्ष हैं। अन्तर और बाह्य का संयुक्त संगठन ही जीवन का संगठन है। सूत्रों की भाषा मे इसी अन्तर और बाह्य को "निश्चय और व्यवहार" कहते हैं। निश्चय तो निश्चय 'अन्तर्यामी' ही जान सकते हैं। परन्तु संसार के सामान्य व्यक्तियों के लिये किसीको पहिचानने का मार्ग तो व्यवहार का मार्ग ही है। महल की नीव मे सीमेन्ट भरा है या शीशा या केवल गारा ही—यह सामान्य व्यक्ति को महल के देखने से पता नहीं चलता, क्योंकि समय विशेष के लिये विशाल महल भी मामूली नीव पर खड़ा कर दिया गया हो या छोटे गृह की नीव मे वर्षो की मजबूती के लिये सीमेन्ट भर गया हो। परन्तु एक अनुभवी इञ्जीनियर इस रहस्य का पता लगा सकता है। साधारण व्यक्ति तो बाहरी ढाचे के

आधार पर ही अपना मत प्रकट करेगा। अतः हमें तो किसीको पहिचानने के लिये उसके व्यवहार को ही तौलना पड़ता है।

व्यवहार में जो साधु अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अकिंचन महाव्रतों का पालन करता है और सूत्रादिष्ट नियमों की आराधना करता है, भगद्वचनों मे आस्था रखता हुआ जीव रक्षा मे धर्म की प्ररूपणा करता है, न कि दया मे पाप बता कर मिथ्यात्व का प्रसार, और जो भगवान् को छद्मस्थ अवस्था मे 'चूका' (पथभ्रष्ट) नही कहता, ऐसा साधु व्यवहार में वन्दनीय है। निश्चय के अनुसार तो जिस किसीका भावना पक्ष साधुत्व के स्तर पर पहुँच चुका है, वह वन्दनीय है और इसीलिये णवकार मंत्र मे "णमो लोए सव्व साहूणं" अर्थात् लोक में सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है। इसी निश्चय के प्रकटीकरण के जो बाह्य चिह्न स्थापित कर दिये गये है, उन्हें व्यवहार के रूप मे देखा जाता है और चूंकि व्यवहार बाहर दिखाई देता है अत' निश्चय के अनुमान का वही एकमात्र साधन होता है। ऐसा होता है कि वाहर से जिसका व्यवहार अति उत्तम दिखाई देता है, परन्तु वह केवल बाह्य आडम्बरमात्र होता है और वास्तव है उसका निश्चय—भावना पक्ष पतित व निन्दनीय होता है और कभी इसके विपरीत भी उदाहरण मिलते है कि व्यवहार का कतई पालन नही, परन्तु निश्चय उच्च श्रेणी मे स्थित है। किन्तु निश्चय तो सबके अध्ययन के वाहर की वात होती है, अत. व्यवहार का ही अधिक महत्त्व होता है,

क्योंकि अन्ततोगत्वा यही एक साधन है. जिससे कुछ पहिचाना जा सकता है।

यही कारण है कि सासारिक और धार्मिक क्षेत्रों मे व्यवहार का अधिक महत्त्व है। कोई काग्रेसी है तो उसे खादी पहननी चाहिये, तो खादी काग्रेसपने (निश्चय) का एक प्रतीक (व्यवहार) हो गई। साधारण रूप से जिसे हम खादी पहने हुए देखे, अनुमान लगाया जा सकता है कि वह काग्रेसी है, फिर अधिक जाच पडताल पर यह भी ज्ञात हो सकता है कि वह काग्रेसी नहीं है किन्तु पहला अनुभव तो यही होगा, जिसकी कि खादी प्रतीक है। इसी तरह यह भी हो कि कोई काग्रेसी विचारधारा रखता हो परन्तु खादी नहीं पहनता हो तो उसे कांग्रेसी रूप में कोई नहीं देखेगा। इसी तरह निश्चयसे साधुत्व की व्याख्या और होने पर भी व्यवहार मे तो उस साधुत्व की बहिर्व्यक्ति के लिये जो नियम और चिह्न निमित किये गये है, उन नियमो और चिह्नो की अनुपालना मे साधुत्व के आदर्श का अनुमान कर लिया जायगा। यह अवश्य है कि प्रथम अनुमान के पश्चात् हम किसी साधु को सूत्रकथित नियमों व चिह्नों की कसौटी पर उसके निश्चय का गहरा अनुमान लगाने का प्रयास करें और यदि हमें निश्चय के स्पष्ट दोष प्रतीत हो जाए तो हम उन्हें साधु न मानें। हां इसमे कोई सन्देह नहीं कि यह कठिन कार्य है और प्रत्येक के वश की बात नहीं। परन्तु व्यवहार की दृढता व शिथिलता की शका मे यह तो नहीं किया जा सकता

कि हम प्रत्येक को साधु मान कर सम्मान देने लग जायं, वह चाहे गृहस्थ हो, या किसी भी विचारधारा को पोषण करने वाला व्यक्ति हो: क्योंकि वह तो निरी मूर्खता होगी और कुछ नही। अत यह सत्य है कि व्यवहार को ही हमे गुणधारकता का आधार बनाना पड़ेगा।

शास्त्रों मे भी, इसीलिये, व्यवहार की विशेषता प्रदर्शित की गई है। 'असोच्चा' नामक केवली की चर्चा आती है कि जिन्हे बिना धर्म श्रवण किये ही भावना पक्ष के चरम विकास से कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उनके लिये भी वन्दन, सम्मान का उल्लेख नही आता क्योंकि जहां प्रतीक (Symbol) नही है, वहा कैसे किसीको पहिचाना जा सकता है ? इसीलिये व्यवहार का विशिष्ट उपयोग है। जहाँ व्यवहार नष्ट हो जाता है, वहाँ आदर्श के दृश्य धरातल का ही अन्त हो जाता है। सांसारिक कार्यों मे भी देखिये, माना आपका कोई अति घनिष्ठ मित्र है, उसका आपसे शुद्ध प्रेम है और उसके घर आप चले जाते है। वह न आपका स्वागत करता है न भोजनादि का आग्रह ही करता है अर्थात् व्यवहार का कतई प्रदर्शन नही करता तो चाहे कितना ही घनिष्ठ प्रेम हो, आपके हृदय मे विचार आये बिना नही रह सकता। भावना पक्ष कितना ही दृढ़ होने पर भी यदि बाह्य साधनो से (व्यवहार से) उसका प्रकटीकरण न किया जाय तो उसका वह मूल्य प्रकाशित नही होता। कई सुधारक महोदय केवल निश्चय को मुक्ति का पाथेय मानते

है—यह उनकी धारणा सही नही कही जा सकती। आप मुझे वन्दन करते है, मेरे व्याख्यान श्रवण करते है, क्यो? इसीलिये कि कमसे कम व्यवहार से तो मैं साधु हूँ ही, निश्चय का सर्वज्ञ प्रभु देखते होगे और एक क्षण के लिये कल्पना कर लीजिये कि मेरा निश्चय शुद्ध नही है, फिर आप जो व्यवहार को शुद्ध देख कर वन्दन कर रहे है, उसमे आपका तो शुद्ध भाव है अत आपको तो अपने शुद्ध भावो का लाभ मिलेगा ही। इसमे विपरीत व्यवहार के अभाव मे यदि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से पूर्णतया संयुक्त भी कोई हो तो भी व्यवहार मे वह वन्दनीय नही होता है। अत जनसाधारण मे शुद्ध व्यवहार उपयोगी होता है।

इसके साथ ही मै यह स्पष्ट कर दूं कि कही आप यह न समझ बैठे कि व्यवहार ही सब कुछ है और निश्चय का कोई खास मूल्य नही। जैसा मैं पहले बता चुका हूं, विकास रूपी महल की नीव तो निश्चय ही है, जिसपर कि व्यवहार का बाहरी ढाचा टिका रहता है। हम साधारण व्यक्तियों के लिये, जिनके ज्ञान चक्षु पूर्णतया विकसित नही हुए है, व्यवहार का ही सहारा रहता है कि अन्य व्यक्तियो के व्यक्तित्व को पहिचान सके। किन्तु जिनके ज्ञान चक्षु पूर्णतया विकसित हो चुके है, जो आत्मसाक्षिता से अन्तर्यामिता तक पहुच चुके है उनके लिये व्यवहार की दीवार निश्चय के ऊपर भी ओट नही कर सकती। उनकी अन्तर्दृष्टि तो सीधी निश्चय पर ही पहुचती है। अत

यह साफ तौर से समझ लेने की आवश्यकता है कि व्यवहार की जड़ निश्चय है। यदि निश्चय नही है तो दिखाया जाने वाला व्यवहार सूखा और नीरस है और इसलिये निरुपयोगी है। निश्चय मुख्य तत्व है, व्यवहार उसका प्रतीक। हमारा राष्ट्र व्यापक है, परन्तु उसका प्रतीक है—झंडा। झंडे की रक्षा देश की रक्षा समझी जाती है क्योकि जहा झंडा झुक गया, राष्ट्र की पराजय मान ली जाती है। साहसी जन जीवन समर्पण करके भी झंडे की रक्षा करते है। अतः आत्मरमण के लिये तो निश्चय काफी है किन्तु इसका क्षेत्र सीमित होता है, अत' अपने आत्मरमण का भाव दूसरो पर भी प्रभाव डाले—दूसरो को भी मार्ग दर्शन दे सके—इसके लिये व्यवहार की नितान्त आवश्यकता है। निश्चय खेत मे उत्पन्न अन्न के पौधे हैं तो व्यवहार उसकी बाढ है। इसी तरह निश्चय धन-सम्पत्ति है और व्यवहार धन सम्पत्ति की रक्षक तिजोरी। निष्कर्ष यह है कि अपने २ स्थान पर निश्चय और व्यवहार दोनों ही जीवन विकास की साथ २ जुडी सरणियाँ है, जिन पर आत्मा को अपने प्रगति के पांव धरने ही पडते है।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगा कि मुक्तिरूपी साध्य को प्राप्त करने के लिये आत्मारूपी साधक को जीवनरूपी साधन के इन दोनों पक्षो—निश्चय (भावना) व व्यवहार को अच्छी तरह समझना ही होगा और साधन के इन दोनों पक्षो के

संबल से पथ निष्कंटक होगा और साध्य की जगमग ज्योति अवश्यमेव दृष्टिगोचर होगी।

लाल भवन, जयपुर] [२९-९-४०

: ८ :

जीवन-विकास के प्रतीक—
दान व त्याग

"गौरवं प्राप्यते दानान्नतुवित्तस्य संचयात्,
स्थितिरुच्चै' पयोदानां पयोधिनामधः स्थितिः ॥"

जीवन का गौरव प्रदान करने मे है, न कि ग्रहण करके एकत्र कर लेने मे। वास्तव मे इस प्रदान करने को—दान कहिये या त्याग—जीवन के विकास का प्रधान कारण समझना चाहिये। मानव जितना अधिक वाह्य पदार्थों का त्याग करता है, उतना ही उसका अन्तर प्रगति की ओर तेजी से दौड़ने लगता है। यहा, जिन लोगो का यह मत है कि अन्तर व वाह्य अथवा आध्यात्मिकता व भौतिकता का समन्वय ही जीवन का चतुर्मुखी विकास कर सकता है, उन्हे यह वता दूं कि किन्ही अशो मे यह समन्वय लाभदायक हो सकता हो किन्तु मूलत' भौतिकना की मूर्च्छा अन्तर को फुसलाने और भुलाने वाली होती है और ज्योही वाह्य मूर्छा का आवरण हटता है, जीवन

के मूलभूत गुण प्रकट होते हैं और विकास पाते हैं। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि केवल संग्रह करने वाला व्यक्ति कभी भी प्रगति के पथ पर कदम नहीं बढ़ा सकता। प्रकृति के स्वाभाविक वातावरण में ही इस सत्य का स्पष्टतः दर्शन किया जा सकता है।

एक पयोधर (बादल) है, जो आकाश के ऊपरी भाग में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता हुआ भ्रमण करता रहता है। दूसरा है पयोधि (समुद्र), जो क्षितिज की परिमित परिधि से बंधा हुआ एक ही स्थान में पड़ा रहा करता है। दोनों के

यह समझता ही नही। इस रहस्य को देखने वाले नासमझ व्यक्ति यह अनुमान लगा सकते है कि सागर त्याग न भी करे तो क्या हुआ? उसका भडार तो विना खाली हुए भरता ही चला जाता है। उसका क्या विगडा? विगड़ा तो वादल का, कि वह विनष्ट होता चला जाता है और पाता कुछ नही। परन्तु प्रकृति का यह रहस्य यही समाप्त नही होता वल्कि आज के आर्थिक जगत् मे फैले हुए रहस्य का पूरा दिग्दर्शन कराता है। वादल के त्याग का प्रभाव होता है कि उसका जल मीठा और पीने योग्य होता है, क्योकि वह देता है, त्याग करता है। किन्तु अपने पेट को वढ़ा कर सग्रह करने वाले सागर का जल देखिये कि खारा और काम मे लाने तक के लिये अयोग्य तथा इसके ऊपर वाडवाग्नि से उसका अन्तर जलता रहता है। संचय करने वाला ऊपर से सुखी दीखे किन्तु आन्तरिक चिन्ताओ से उसका हृदय जलता रहता है। संचय करने वाले सागर को यह अस्वाभाविकता और कष्ट ही नही भुगतना पडता किन्तु सूर्यताप की क्रान्ति मे वादल उससे जल हरण करता है, अपने त्याग और तपस्या से उस पानी को मधुर वनाता है और फिर से धरती पर अपने लिये कुछ भी न रखकर उसे विखेर देता है।

आज के सामाजिक जीवन का भी यही सत्य है। साधारण जनता का शोषण करके चन्द पूजीपति एकत्रीकरण करते हुए भी अपनी तृष्णा का पेट मोटा करते रहते है, जहा वह धन-राशि सर्वसाधारण के उपयोग से वन्चित रहकर कटु निरर्थकता

मे परिणित होती जाती है। किन्तु समाज मे त्यागियों का उद्भव क्रान्ति को जन्म देता है, जनसाधारण के हितार्थ और उस क्रान्ति मे उस संचय की दीवारें तोडी जाती है ताकि बादल के जल की तरह उसका सब मे समान वितरण किया जा सके। वैसी अवस्था मे ही समाज मे सच्चा प्रेम, बन्धुत्व, भावना व कुटुम्बवत् वातावरण का प्रसार हो सकता है क्योंकि संचय की स्थिति सदैव पारस्परिक ईर्ष्या, नृशंस भावना व क्रूर हिंसा को जन्म देती है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र मे प्रसारित करता है, वहा संचय वृत्ति हृदय को अत्यधिक संकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

जीवन विकास के क्षेत्र मे दान अत्यावश्यक है। किन्तु उसकी सफलता के लिये उसके साथ निष्काम वृत्ति का होना और भी अनिवार्य है। कामना एवं स्वार्थलिप्सा के वशीभूत होकर दिया जाने वाला दान कोई महत्व नहीं रखता। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है, वह एक दृष्टि से वास्तव मे दान नहीं करता है बल्कि एक तरह का सौदा करता है जो उसकी आत्म-प्रवचना मात्र सिद्ध होती है। कामनायुक्त दान तो जीवन विकास मे बाधक हो जाता है क्योंकि उस स्वयं प्रतिष्ठा के [illegible] मे आत्म स्वरूप की परिभावना [illegible] हो जाता है। दान विषयक सतत ज्ञान के अभाव मे [illegible] कोई और मूल [illegible] लोगों [illegible] अधिक

उस दान का कोई मूल्य नही होता। यह आश्चर्य का विषय नही होगा कि आज समाज मे ९९ प्रतिशत दिये जाने वाले दान में प्रायः कामना का अस्तित्व होता है। कोई दान मुश्किल से ही इस भावना के साथ दिया जाता होगा कि शत प्रतिशत इसकी उस क्षेत्र मे उपयोगिता है बल्कि दान ऐसे स्थानों पर दिया जाता है, जहांसे उनकी कीर्ति कौमुदी जनता के धरातल पर छिटके। परन्तु समुद्र के खारे पानी मे तब तक मिठास नही आ सकता, जब तक कि दान के लिये बादल को न दे दिया जाय। उसी तरह दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जनकल्याण कर सकती है।

महाभारत मे इस विषयक एक आख्यान आया है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करके ब्राह्मणो को खूब दान दिया, अतः ब्राह्मण लोग यज्ञ मंडप मे एकत्रित होकर उनकी प्रशसा करने लगे। परस्पर यही वार्ता चल रही थी कि ऐसा यज्ञ न भूतकाल मे किसी ने किया, न वर्तमान मे कोई करने वाला है और न भविष्य मे होगा। इतने मे वहा एक न्योला आ निकला, जिसका आगे का आधा भाग स्वर्णमय था और पीछे का मटमैला। ऐसे अद्भुत पशु को देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये। न्योले ने आश्चर्यान्वित ब्राह्मणो को कहा—जिस यज्ञ की तुम प्रशंसा कर रहे हो, वह नितान्त मिथ्या है। मैंने जो यज्ञ देखा है, उसके सामने यह यज्ञ कोई महत्त्व नही रखता। यह सुनकर तो ब्राह्मणो को और अधिक कौतूहल हुआ। विस्मित

मे परिणित होती जाती है। किन्तु समाज मे त्यागियों का उद्भव क्रान्ति को जन्म देता है, जनसाधारण के हितार्थ और उस क्रान्ति मे उस संचय की दीवारे तोड़ी जाती है ताकि बादल के जल की तरह उसका सब मे समान वितरण किया जा सके। वैसी अवस्था मे ही समाज मे सच्चा प्रेम, बन्धुत्व, भावना व कुटुम्बवत् वातावरण का प्रसार हो सकता है क्योंकि संचय की स्थिति सदैव पारस्परिक ईर्ष्या, नृशस भावना व क्रूर हिसा को जन्म देती है। दान हृदय की उदार विशालता को अधिकतम क्षेत्र मे प्रसारित करता है, वहा संचय वृत्ति हृदय को अत्यधिक संकुचित बनाती हुई उसे घृणित रूप दे देती है।

जीवन-विकास के क्षेत्र मे दान अत्यावश्यक है। किन्तु उसकी सफलता के लिये उसके साथ निष्काम वृत्ति का होना और भी अनिवार्य है। कामना एवं स्वार्थलिप्सा के वशीभूत होकर दिया जाने वाला दान कोई महत्व नही रखता। जो दान देकर उसके बदले की आशा लगाये रहता है, वह एक दृष्टि से वास्तव मे दान नही करता है, बल्कि एक तरह का सौदा करता है, जो उसकी आत्म-प्रवंचना मात्र सिद्ध होती है। कामनायुक्त दान तो जीवन विकास मे बाधक हो जाता है क्योंकि उस व्यर्थ प्रतिष्ठा के अहभाव मे आत्म-स्वरूप को पहिचानना दुष्कर हो जाता है। दान विषयक सम्यक् ज्ञान के अभाव मे खाने के लोलुपी और 'मुफ्त मगलिये' लोगो की वाहवाही मे अधिक

उस दान का कोई मूल्य नही होता। यह आश्चर्य का विषय नही होगा कि आज समाज मे ६६ प्रतिशत दिये जाने वाले दान में प्रायः कामना का अस्तित्व होता है। कोई दान मुश्किल से ही इस भावना के साथ दिया जाता होगा कि शत प्रतिशत इसकी उस क्षेत्र मे उपयोगिता है बल्कि दान ऐसे स्थानो पर दिया जाता है, जहांसे उनकी कीर्ति कौमुदी जनता के धरातल पर छिटके। परन्तु समुद्र के खारे पानी मे तब तक मिठास नही आ सकता, जब तक कि दान के लिये बादल को न दे दिया जाय। उसी तरह दान के शुद्ध दृष्टिकोण से अर्पित की जाने वाली धनराशि ही सच्चा जनकल्याण कर सकती है।

महाभारत मे इस विषयक एक आख्यान आया है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करके ब्राह्मणो को खूब दान दिया, अत. ब्राह्मण लोग यज्ञ मंडप मे एकत्रित होकर उनकी प्रशंसा करने लगे। परस्पर यही वार्ता चल रही थी कि ऐसा यज्ञ न भूतकाल मे किसी ने किया, न वर्तमान मे कोई करने वाला है और न भविष्य मे होगा। इतने मे वहा एक न्यौला आ निकला, जिसका आगे का आधा भाग स्वर्णमय था और पीछे का मटमैला। ऐसे अद्भुत पशु को देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये। न्यौले ने आश्चर्यान्वित ब्राह्मणो को कहा—जिस यज्ञ की तुम प्रशसा कर रहे हो, वह नितान्त मिथ्या है। मैंने जो यज्ञ देखा है, उसके सामने यह यज्ञ कोई महत्त्व नही रखता। यह सुनकर तो ब्राह्मणो को और अधिक कौतूहल हुआ। विस्मित

स्वर मे उन्होने न्योले से पूछा—ऐसा कौनसा यज्ञ तुमने देखा, जो इसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था ।

उस वृत्तान्त को सुनाते हुए वह न्योला कहने लगा—कुछ समय हुआ देश मे व्यापक दुर्भिक्ष पड़ा था। सारी जनता को भारी अन्न संकट हो गया। इसी तरह एक संकटापन्न परिवार को भी अन्न का एक दाना भी नहीं मिला। उस परिवार मे घर का स्वामी, उसकी धर्मपत्नी, पुत्र व पुत्र-वधू—कुल चार व्यक्ति थे। तीन दिन तक ऐसी स्थिति भुगतने के बाद चौथे दिन उन्हे कहीं से एक सेर सत्तू मिला। चारो व्यक्तियो ने उस सत्तू का विभाग किया ही था कि एक भिक्षुक ने द्वार पर आकर कहा—मै चार दिन से भूखा हूँ, कुछ रूखा-सूखा मुझे भी दे। उस गृहस्थी ने विचार किया—मैं तो मजदूरी करके भी कुछ प्राप्त कर सकता हूँ इस दुष्काल के समय भी अन्न कहीं से भी प्राप्त कर सकूंगा? लेकिन यह भिक्षुक भी तो भूखा है, सम्भव है, इसे अन्न की हमारे से भी अधिक आवश्यकता हो! यह सोच कर उसने अपने हिस्से का सत्तू उस भिक्षुक को दे दिया। सब सत्तू खा जाने पर भी उस भिक्षुक की क्षुधा शान्त नहीं हुई, बल्कि वह तो अग्नि मे डाले हुए घी की भांति और अधिक प्रज्वलित हो गई। उसने फिर कहा—कुछ और कृपा करे तो मेरी क्षुधा शान्त हो। इस पर उस गृहस्थ की पत्नी ने भी अपना हिस्सा उसे दे दिया। फिर भी जब उसकी क्षुधा शान्त नहीं हुई तो पुत्र व पुत्र-वधू ने भी अपने २ हिस्से दे

दिये। तब वह पूर्ण तृप्त होकर आशीर्वाद देता हुआ आगे बढ़ गया. किन्तु घर के चारो व्यक्तियो ने अन्न के अभाव मे अपने प्राण-त्याग किये। न्योला कहने लगा—उस समय मैं वहा पहुंच गया। वहा उस भिक्षुक के खाते समय बिखरी हुई भुस्सी का मेरे शरीर से स्पर्श हो गया और उस स्पर्श से मेरा शरीर स्वर्णमय बन गया। इसके बाद मै कई यज्ञ मंडपो मे गया और आज इस यज्ञ मडप मे भी आया हूं किन्तु चारो ओर घूमने के बाद भी मेरे शरीर का शेष भाग स्वर्णमय नही हो सका। ऐसी अवस्था मे मैं तुम्हारी प्रशसा को सत्य कैसे मान लू ? इसलिये मैं तुम्हे दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि यह यज्ञ उस यज्ञ का सहस्रांश भी नहीं हो सकता। वस्तुत' सच्चे त्याग एवं चारित्र्य का महत्व ही इस कथानक मे वर्णित किया गया है।

आज एक पूजीपति लाखों करोडो रुपये बेईमानी, भ्रष्टाचार व काले बाजार से संचित करता है और ऐसी परिस्थिति मे यदि वह हजार दो हजार का दान अपने यश व नाम की लालसा मे कर भी देता है तो वह कोई महत्त्व नहीं रखता, किन्तु यदि एक गरीब अपने परिश्रमपूर्ण अल्प संचय मे से थोड़ा सा भी दान कर देता है तो वह महान् है। गरीब को दान करते समय अपनी अल्पस्थिति पर दु ख होता है, लज्जा आती है और चिन्तित होता है। कार्य का महत्त्व नही, कार्य के साथ संयुक्त भावना की श्रेणी से कार्य का न्यूनाधिक महत्त्व अंकित किया जाता है। गरीब का जीवन भावनापूर्ण होता है

और इसीलिये उसके अन्तर का द्वार सबके लिये खुला रहता है। ऐसे भावनामय संसार मे विचरण का आनन्द यशलोलुपी पूंजीपति को कहा उपलब्ध होता है ?

जरा शालिभद्रजी के पूर्व भव को देखिये। गरीब विधवा के पुत्र के नाते उन्होंने अपने जीवन मे कभी भी खीर का स्वाद नही चखा। अपने अमीर दोस्त को कई बार खीर खाते देखा तो एक बार हठ करके किसी भी तरह खीर बनाने के लिये अपनी माँ को मजबूर किया। इस बच्चे को रुदन करते देख माता के भी आँसू आ गये, आसपास की पडोसिनिया इकट्ठी हो गयी। उन्होंने सब बात मालूम की और कहा कि हमारे यहां से माग लेती एकने कहा कि यह मागने वाली नही है। यह तो अपने पुरुषार्थ पर काम करती है, दूसरी ने कहा कि हम अपनी खुशी से ला देती है, हमारी बहिन है। हम इनके यहा से भी कभी कोई चीज ले जायेगी—आदि कह कर, खीर की सभी सामग्री अति आग्रहपूर्वक उसको दी। गरीब की दु:खभरी हालत सही तौर से गरीबी भुगता हुआ ही पहिचान सकता है। कवि ने भी कहा है—

> दुखिया आगे दु:ख कहे तो आधा बंटा लेत।
> सुखिया आगे जो कहे तो दो गारि अरु देत॥

इसी विचार से वह विधवा पास-पडोस की गरीब स्त्रियो से थोडी थोडी करके खीर की सामग्री इकट्ठी कर सकी। जब खीर बन गई मॉं ने उसे एक थाली मे परोस कर अपने पुत्र के

सामने रख दी। पुत्र भी जल्दी ठंडी होने की इन्तजार मे थोडी देर बैठा रहा। उसी समय एक मुनि भिक्षार्थ वहां आ पहुँचे। कोई भी सोच सकता है कि जीवन मे पहली बार और वह भी बडी कठिनाई से प्राप्त हुई खीर मे बालक की कितनी लालसा थी किन्तु उसने सोचा कि आधी खीर मुनि को दे ही दूं। भावनापूर्ण हृदय से उस बालक ने बाल्य सरलता मे थाली के बीच अगुलि से एक रेखा खीच दी ताकि विभाग बराबर हो। किन्तु वह तो तरल पदार्थ था और मुनि के पात्र मे थाल के झुकाते ही सब खीर अन्दर गिर गई। फिर भी बालक को बुरा न लगा। वह मजे से थाली के साथ संलग्न खीर के अंश को चाटने लगा। उसने अपनी मा के सामने भी नही कहा कि मैने दान दिया, इस तरह दान देकर पचा जाना, किसी प्रकार की कामना रखना, यह तलवार की धार पर चलने के समान है। उसी त्यागमय दान का प्रभाव हुआ कि शालिभद्र को महान् ऐश्वर्य व अपार सुख की प्राप्ति हुई।

इन सब का सार यही है कि त्याग के सच्चे व आन्तरिक महत्त्व को समझने की बहुत बडी आवश्यकता है। इसी प्रसग मे आज दिये जाने वाले दान के सम्बन्ध मे दो शब्द कहना अप्रासंगिक नही होगा।

आज अधिकतर दानी महाशय दान की सच्ची भावना की अपेक्षा नाम की लालसा के पीछे ही अधिक ध्यान रखते है। इसीलिये मकानो पर बडे २ अक्षरो मे नाम खुदवाते है कि

अमुक दानवीर सेठ ने यह कमरा बनवाया अथवा अखबारों में दानवीरों की सूची छपवाई जायगी कि अमुक २ उदार सेठों ने पिंजरापोल, गौशाला व धार्मिक शिक्षण संस्थाओं में इतना २ दान दिया है। इस प्रकार नाम चाहने वालों को कोरा नाम तो मिल जाता है किन्तु दान से उत्पन्न जो आत्मिक चेतना का आभास होना चाहिये, वह उन्हें हो ही नहीं पाता। उस दान से उनके जीवन में उल्टे एक मिथ्या अहंकार का दारिद्र्य जमा होता है. जीवन विकास की सम्पन्नता तो आने ही नहीं पाती। वास्तविकता तो यह है कि दान दिया जाय, सेवा की जाय, किन्तु कीर्ति की गुलामी से बचा जाय। आप आगे बढ़ते जाओ, दु खियों के आंसू पोछने जाओ और विश्व को सुखी बनाने की भावना रखो, सम्पूर्ण सुख आपके चरणों में अपने आप लोटने लगेगा। सांसारिक पदार्थों का यह हाल है कि उनके पीछे जितने अधिक भागोगे, वे उतने ही अधिक दूर भागते जायेंगे। किन्तु यदि उनसे उपेक्षा वृत्ति धारण कर लोगे तो वे ही आपके चरणों में आकर लोटेंगे और आपको उनकी परवाह नहीं होगी। हृदय में दास-वृत्ति को स्थान मत दीजिये, स्वामित्व की भावना रखिये, फिर विश्व आपका हो जायगा। वही दान विशिष्ट होगा और उसीका प्रभाव पूर्णरूपेण आत्म-विकास पर पड़ेगा।

दान भावना और यश-लालसा के अन्तर को प्रकट करने वाली एक घटना मुझे याद आती है। इन्दौरमें मेरे गुरु महाराज

श्री मोतीलाल जी म० सा० की तपस्या के पारणे के अवसर पर जीव-रक्षा के लिये चन्दा इकट्ठा किया जाने लगा। बड़े २ लखपतियोने प्रसन्नतापूर्वक हजार हजार, दो दो हजार लिखाना शुरू किया। उस समय एक गरीब श्रावक, जिसके पास शायद १०) रु० की पूजी भी न होगी, चन्दा इकट्ठा करने वाले सेठजी से कहने लगा—सेठजी, इस चन्दे मे मेरा भी एक रुपया लिख ले। किन्तु धन के अभिमानियो ने उसकी इस भावना का उपहास करते हुए कहा कि इस विशाल चन्दे मे तुम्हारे एक रुपये का क्या मूल्य? ऐसा निराशाजनक उत्तर सुनकर उस श्रावक को बहुत दु ख हुआ। मैं जब बाहर जगल से आया और उसकी उदासी का कारण जान पाया तो उस सारी घटना को मैंने श्री जवाहिरलाल मा० सा० को कह सुनाया। स्वर्गीय पूज्यश्री ने चन्दा इकट्ठा करने वाले सज्जन को समझाया कि उस भाई को निराश करना उचित नही। उसके भावनापूर्ण एक रुपये का दान लखपतियो के हजारो के दान से भी अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि उसके दान के पीछे हृदय की सरलता-पूर्ण उदार भावना है, यश की कामना नही।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगा कि त्याग और दान ही जीवन का विकासक है। दान सरल भी है, यदि हृदय मे सच्ची भावना व उदारता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से दान-हित कुछ न कुछ निकाल सकता है। मोक्ष के चार उपाय—दान, शील, तप व भावना—बतलाए है, उनमें भी दान को

सर्वप्रथम कहा गया है। अत: यदि आप जीवन में प्रगति चाहते हैं तो अपनी शक्ति गिरे हुए को उठाने में और दुखियों का दर्द दूर करने में लगावें। निःस्वार्थ भाव से निष्काम बन कर प्राणी मात्र की सेवा करें। इस विचारधारा को यदि जीवन में कार्यान्वित किया जाय तो जीवन में उच्चतम विकास उपलब्ध किया जा सकता है और त्यागमय सर्वांग सुन्दरता से जीवन को सुसज्जित किया जा सकता है।

एस० एस० जैन सभा भवन,
सब्जीमंडी, दिल्ली] [११-३-५१

: ९ :

भगवान् की चरण-सेवा

धार तलवार नी सोहली,
दोहली चवदवां जिनतणी चरण सेवा..

'ससार रूपी समुद्र मे जीवनरूपी जहाज को विकास के मार्ग का भान कराने के लिये महान् विभूतियों के आदर्श दीप स्तभ का काम करते है । जिस प्रकार अनन्त विस्मृत पयोधि में दीप-स्तंभ (Light House) की प्रकाश रेखा के आधार पर जहाज अपने निश्चित मार्ग से विना किसी अवरोध व आपत्ति के आगे बढ़ते जाते है, उसी प्रकार महान् आदर्श हमे हमारे जीवन को सुनिश्चित पाथेय पर चला कर विकसित करने मे अनुपम सहयोग प्रदान करते है । यही कारण है कि प्रभु-भक्ति का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है। जिस समय हम भक्ति मे तल्लीन होते है, हमारे नेत्रो के समक्ष उनके सारे जीवन-विकास का पूरा चित्र सा खिच जाता है। हमे दिखाई देता है कि वे

साधारण व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर प्रभुत्व तक कैसे पहुँचे, नर से नारायण बनने मे उन्होंने किस पथ का अवलम्बन लिया और तभी हमारे सामने हमारे विकास का भी रास्ता साफ होने लगता है। यही प्रभु-भक्ति की प्रमुख विशेषता है। परन्तु कवि विनयचन्द जी कहते है कि तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना सरल है परन्तु भगवान् की चरण-सेवा करना अतीव कठिन है। कवि के इस कथन मे गूढ अर्थ भरा हुआ है और इस गूढ अर्थ को समझ लेने में ही प्रभु-भक्ति की यथार्थ अर्थ मे उपयोगिता व जीवन की सफलता है, वरन् प्रभु-भक्ति बाह्या-डम्बर मात्र रह जाती है तथा इसके नाम पर कई अनर्थ होते हैं।

भारतवर्ष मे विशेष रूप से भक्ति मार्ग की बडी महिमा है और यह निर्विवाद सत्य है कि प्रभु भक्ति से मानव हृदय में शुभ भावों का उद्रेक होता है और तदनन्तर उसी दिशा मे निज के जीवन विकास की एक गहरी बेचेनी पैदा हो जाती है। किन्तु इसके साथ ही हमारे लिये यह नग्न कटु सत्य भी है कि आज प्रभु-भक्ति का भावना-पक्ष समाप्त हो गया है और केवल बाह्य पक्ष निष्प्राण रूप मे आडम्बर के आभूषण पहने चमचमाता हुआ शव (Mummy) मात्र रह गया है। यही कारण है कि जहां केवल बाह्य रूप ही अवशेष रह जाते है वहा नाना प्रकार के विकार आ घुसते हैं और सारा ढांचा खराब कर देते हैं। आन्तरिक तत्त्व एक बार समाप्त होने पर भी यदि किसी का

बाह्य रूप ही शुद्ध अवस्था मे रह सके तो फिर कभी भी उसके विशुद्ध पालन से आन्तरिकता का आविर्भाव हो सकता है परन्तु ऐसा होता नही है। केवल बाह्य रूप मे विकार उत्पन्न हुए विना नही रहते तथा इस प्रकार पूरा सिद्धान्त समाज के लिये अनुपयोगी हो उठता है। प्रभु-भक्ति का भी कुछ ऐसा ही हाल है। प्रभु भक्ति के आन्तरिक महत्त्व को विस्मृत कर हम केवल उसके बाह्य रूप की ओर झुके। जिसका परिणाम यह हुआ कि सारे भारतवर्ष मे सैकडों मन्दिरों का निर्माण हुआ और करने लगे पाषाण-मूर्तियो को भगवान मान कर उनकी चरण-सेवा फूल जल से। मगर मनुष्य ने न भगवान् का आदर्श रखा, न हृदयो मे भावना का प्रवाहित होता हुआ जल। फल-स्वरूप आज प्रभु-भक्ति का सच्चा आदर्श लुप्तप्राय: सा होता चला जा रहा है।

मन्दिर-निर्माण और मूर्ति-पूजा के प्रारंभ के पश्चात् भगवान् की चरण-सेवा का तात्पर्य बड़ा ही आसान मान लिया गया। मन्दिर का घंटा बजाया, 'चरणामृत' पीया और चरण-सेवा हो गई। धर्म क्या, एक खिलवाड हो गया। वास्तव मे मन्दिरों और मूर्तियो ने स्थापत्य कला के क्षेत्र मे भले ही प्रमुखता प्राप्त की हो परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे वजाय आत्मिक उत्थान के इन्हें एक दृष्टि से पतन का ही कारण अधिक बनाया गया है। अस्तु हमे यहा समझना यह है कि फिर भगवान् की चरण-सेवा का यथार्थ रूप क्या है?

'चरण' शब्द का अर्थ बड़ा ही गूढ़ है। इस शब्द से केवल 'पांव' ही अर्थ करके नही रह जाना है। 'चरण' शब्द का अर्थ चारित्र्य है। जिन पांवो पर खड़े होकर किन्ही विभूतियो ने नीचे से ऊपर उठ कर आदर्श स्वरूप प्राप्त किया, उनके पांवो की शक्ति को हमे पूजना है। वह पावों की शक्ति उनका चारित्र्य था। यहां पूजने का अर्थ भी उस चारित्र्य की कार्य परिणति मे हमारे जुट जाने से है। अब देखिये कि भगवान् की चरण-सेवा कैसे हो सकती है—केवल 'चरणामृत' पीकर या चारित्र्य की आशा मे अपनी आत्मा को सोने सा तपाकर ? इसीलिये तो कवि कहते है कि तलवार की धार पर चलना तो सरल है, क्योंकि कलाबाजी मे ऐसा किया जा सकता है, किन्तु भगवान की चरण सेवा अति ही 'दोहिली'— कठिन है।

अब यहां प्रश्न उठता है कि क्या मोक्ष-प्राप्ति के लिये 'भगवान की चरण-सेवा' ही पर्याप्त है ? किन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि पांवों का काम चलना है, किन्तु उन्हे चलाने वाला तो कोई और चाहिये ही। इसलिये भगवान के चरणों (चारित्र्य) की ओर अनुकरण के लिये जब हम दृष्टिपात करेंगे तो यह अनिवार्य हो जायगा कि उन चरणों को चलाने वाले मस्तिष्क (भगवद् कथित सम्यक् ज्ञान) की ओर पहले देखें। क्योंकि वे पैर कैसे बढे है, उसका कारणभूत रूप तो मस्तिष्क है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग संयम की क्रिया मे ही एकान्त मुक्ति मानते हैं, वह समीचीन नही है।

सम्यक्ज्ञान व सम्यक् क्रिया के संयुक्त प्रयास ही मुक्ति के स्वर्णिम द्वार तक पहुंचा सकता है।

यह समझने पर कि ज्ञान और क्रिया का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा सिर्फ ज्ञान और क्रिया आत्मोत्थान-हित किन अंशों मे उपयोगी रह जाते है, ज्ञान और क्रिया का संयुक्त महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। यह एक साधारण विवेक की बात है कि हम कोई कार्य निष्प्रयोजन नही करते। एक स्थान से उठ कर दो कदम भी कही जाना होता है तो पहले हम सोचते है कि यह हमें किसलिये करना है। करने के पहिले जो पूर्व विचारणा है वही ज्ञान है और उसके प्रकाश में ही हमारा करना सफल हो सकता है। पागल के इधर उधर चलने का कोई महत्त्व नही हो सकता। पहले योजना (Plan) बनाना और फिर उस पर अमल करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मोत्थान के लिये या किसी भी कार्य के लिये विना ज्ञानयुत क्रिया के कोई लाभ नहीं। न अन्धे की तरह इधर उधर भटकने से कोई प्रयोजन हल हो सकता है, न आंखों की रोशनी लेकर एक जगह बैठ जाने से। किसी स्थान पर पहुंचना तो तभी हो सकता है कि आखे खोल कर ठीक रास्ते पर आगे बढ़ते जावें। इसके लिये पहले ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये ताकि उस उजाले में मार्ग ठीक २ दिखाई दे और ठीक उसीके लक्ष्यानुसार आगे बढा जा सके। "जानो और करो" का सिद्धान्त ही 'भगवान् की चरण सेवा' का आनन्द प्रदान करा सकता है।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त है—"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष" अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनो से ही मुक्ति सभव है। इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त भी प्रच-लित है। एक जंगल मे एक लंगडा और एक अन्धा दोनो एक स्थान पर बैठे हुए थे। जंगल मे चारो ओर आग लगी हुई थी और तेज लपटे बढ़ती चली जा रही थी। दोनो को अपनी जीवन-रक्षा करनी थी, पर क्या करे? दोनो भागने मे विवश थे। पहले तो दोनो अपनेपन मे रहे और दोनो ने सहयोग करने का समझौता नही किया। अंधे के आगे तो अंधेरा था, वह बेफिक्र था। परन्तु लंगडा बढ़ती हुई आग से घबडा गया, वह देख जो रहा था। लंगडा अंधे को चेतावनी देने लगा कि यदि हमारा आपस मे सहयोग न हो सका तो दोनों ही जलकर भस्म हो जायेगे। उन्हें उस दावानल से मुक्त होना था। जान-बूझ कर अपने जीवन को खतरे मे डालना तो मूर्खता की ही निशानी है। यह मैं नही कहता कि लोगों में मूर्खों की संख्या कितनी अधिक है, परन्तु उन दोनो ने ऐसी मूर्खता के शिकार नहीं बनने का फैसला कर लिया। अन्धे के कन्धों पर लगड़ा चढ़ गया और वह अन्धे को मार्ग बताने लगा। लगडे के बताये रास्ते पर अन्धा चलता रहा और इस तरह दोनो उस जगल से पार हो गये। इस प्रकार इस ससार के दावानल से बाहर मुक्ति का जो मार्ग जाता है, उसपर आगे बढ़ने के लिये ज्ञान के निर्देशन मे क्रिया का अपूर्व सगठन चाहिये।

अपेक्षा से क्रिया जड़ है और ज्ञान चेतन। चेतन ही जड़ को चला सकता है और ज्ञान के निर्देशन मे की हुई ही कोई क्रिया फलवती हो सकती है। सम्यक् ज्ञान विना केवल क्रिया से एकान्त फल नही मिलता। ज्ञानहीन क्रिया से दोनो फल मिल सकते है—शुभ भी और अशुभ भी, क्योंकि उसमे निश्चय का कोई मापदंड नही होता। पागल अपनी माँ को 'माँ' भी कह सकता है और 'स्त्री' भी, क्योंकि उसकी बेभान अवस्था है। किन्तु उसका न तो 'माँ' कहना कोई माने रखता है, न 'स्त्री' कहना ही। उसी तरह ज्ञानहीन क्रिया निरर्थक है। शुभ क्रियां भी इसीलिये दो तरह के फल दे सकती है। सम्यक् ज्ञान सहित जो शुभ क्रिया की जाती है, वह तो शुभ फल देती ही है परन्तु विना सम्यक् ज्ञान के प्रकाश के की जाने वाली शुभ क्रिया अशुभ फल भी दे सकती है। नागश्री ब्राह्मणी ने मुनि धर्मरुचि को दान दिया, वह दान देने की क्रिया निस्सन्देह ऊपर की दृष्टि से शुभ थी, परन्तु उसका फल कटुक (नरक) मिला। क्योंकि उसके अन्तर में पाप-भावना काम कर रही थी, वह तो उस कड़ुए तूवे को निकालना चाहती थी। इसी तरह उदयन महाराज ने पुत्र की राज्य पर आसक्ति न हो—इस हेतु से भानजे को राज्य देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली। परन्तु मति-भ्रष्ट पुत्र ने पिता को शत्रु समझ कर मारने का विचार किया। इस प्रयोजन के लिये वह स्वयं दीक्षित हुआ और वाहर से दिखाने के लिये संयम की सभी क्रियाएं करने लगा। परन्तु

उसके मानस का चित्र कुछ और ही था। एक दिन अवसर पाकर उसने अपने पिता की हत्या कर दी। इससे यह स्पष्ट है कि शुभ फल शुभ भावों (सम्यक् ज्ञान) के साथ मिलता है, केवल शुभ क्रिया से मोक्ष-सम्बन्धी फल कदापि नही मिलता। भगवान् की वास्तविक रूप से चरण-सेवा भी अपने सफल उपयोग के लिये भगवान् के ज्ञान का सहयोग चाहती है। मिथ्या-दृष्टि की कठिनतम क्रिया भी संसार के परिभ्रमण से मुक्त नहीं कर सकती।

कतिपय भाई मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) को देशतः आराधक और उसकी दान-व्रतादि शुभ क्रिया को भगवान की आज्ञा मे मानते है। ऐसा मानने का उद्देश्य यह है कि वे भाई साधु के सिवाय अन्य सबको कुपात्र मानते है और उन कुपात्रों को दान देने मे और मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में एकान्त पाप बताते है। शुभ भाव पूर्वक अपने ही साधु से इतर को दिये हुए दान मे और प्राणी की रक्षा करने मे पुण्य नही मानते। वे जहां धर्म होता है वहां पुण्य मानते है और चूंकि साधु को देने मे धर्म होता है अतः वहां पुण्य का बंध मानते है, अन्य को देने मे नहीं। इनकी इस मान्यता के आधार पर इनसे पूछा गया कि तुम जहां धर्म होता है, वहां पुण्य मानते हो फिर जब मिथ्या दृष्टि की शुभ क्रिया में धर्म तो होता नहीं तब पुण्य का बंध कैसे होगा ? क्योंकि ठाणांग जी सूत्र मे धर्म दो प्रकार का बताया है—श्रुत धर्म (ज्ञान व दर्शन) और चारित्र धर्म, जो

कि मोक्ष के मार्ग है. किन्तु मिथ्यादृष्टियों मे दोनों का अभाव होता है। फिर भी उनके पुण्यबंध दृष्टिगोचर होता है। वे भिन्न २ ऊँच नीच जातियों मे जो जन्म लेते है, वह पुण्य ही के प्रभाव से तो होता है। फिर शास्त्र की प्ररूपणा को तिरस्कृत करके धर्म की नवीन रचना कर देना कहाँ तक भगवदाज्ञा का पालन करना है। उनके द्वारा श्रुत और चारित्र्य धर्म के स्थान पर संवर और निर्जरा धर्म की नवीन सृष्टि की गई है। उनका कहना है कि मिथ्यादृष्टि मे सवर धर्म तो नही होता किन्तु निर्जरा धर्म होता है अतः उसके निर्जरा धर्म के साथ पुण्य का बंध होता है ? किन्तु यह मान्यता स्पष्टतया शास्त्र के विपरीत है। क्योंकि प्रथम तो शास्त्रोक्त धर्म के दो प्रकार—श्रुत और चारित्र्य धर्म है. न कि संवर और निर्जरा धर्म, जो कि केवल अपने मिथ्या सिद्धान्तों पर आवरण डालने के लिये रचे गये है। दूसरे निर्जरा के भी दो भेद है—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। ज्ञानपूर्वक क्रिया करने वाले सम्यक् दृष्टि को सकाम निर्जरा होती है और भगद्वचनों पर श्रद्धा न रखते हुए इह-लौकिक सुखों की अभिलाषा से मिथ्यादृष्टि द्वारा की जानेवाली क्रियाएं अकाम निर्जरा का कारण बनती है। अतः जब मिथ्या-दृष्टि ही आज्ञा में नही है तो उसकी करणी भगवान् की आज्ञा मे कैसे कही जा सकती है ? उस मिथ्यादृष्टि की करणी को आज्ञा मे मानना केवल साम्प्रदायिक व्यामोह तथा मिथ्या हठ है।

मिथ्यादृष्टि का वास्तविक अर्थ यह है कि जो संसार की

विषय-वासनाओं में रमण करने वाला है, चाहे अक्षरी ज्ञान उसका कितना ही परिपक्व क्यों न हो, किन्तु वह आत्माभिमुखी नहीं होता। इसके विपरीत अक्षरी ज्ञान जिसका अल्प भी है परन्तु आत्मोत्थान की ओर जिसका लक्ष्य बना हुआ है, वह सम्यक् दृष्टि है। जीवन में सच्चा विकास करने की जो दृष्टि बन गई है, वही सम्यक् है। महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने है। उनसे अधिक विद्वान्, अधिक बुद्धिशाली भी अन्य थे परन्तु आत्माभिमुखी होने के कारण जो विचित्र शक्ति उनमें थी, वही उनके जीवन पथ को कठोर विपदाओं में से निकाल कर शुद्ध लक्ष्य की ओर मोड़ती रहती थी। इसीलिये सम्यक् दृष्टि का विकास ही सच्चा जीवन-विकास कहलाता है।

इस सारे स्पष्टीकरण का सार यह है कि 'भगवान की चरण सेवा' धूप, दीप, नैवेद्य आदि की पूजा से नहीं होती, बल्कि चारित्र्य के जिस त्यागमय पथ पर उन्होंने चलकर जगत के समक्ष आदर्श उपस्थित किया है, उस चारित्र्य की आराधना करने से ही वास्तविक चरण-सेवा हो सकती है। इसके साथ में ही यह भी समझ लेना चाहिये कि केवल चारित्र्य भी, जो सच्चे ज्ञान से रहित हो हमारे जीवन को वासनाओं और विकारों के भयंकर दावानल से मुक्त नहीं बना सकता। इस उद्देश्य के लिये तो चारित्र्याराधन के पूर्व उसके मार्ग दर्शन के लिये सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। अज्ञानपूर्वक की जाने वाली उग्र क्रिया को भगवदाज्ञा में मानना कतई मिथ्या है।

कतिपय भाई अपने स्वार्थवशात् भोली जनता मे शास्त्रविरुद्ध भ्रमणा फैलाने के लिये ज्ञान और क्रिया के संयुक्त महत्त्व पर आघात करते है और धर्म एवं पुण्य की असम्बद्ध व्याख्याओ का निर्माण करते है। इस प्रकार की मिथ्या नवीन रचनाओं से पहले २ भले ही अज्ञान जनता को भ्रमित करने मे सफलता मिल जावे, परन्तु आत्मा का वास्तविक उत्थान चाहने वाले व्यक्ति जब गंभीरता से इन सिद्धान्तो के विषय मे सोचेंगे तो उन्हें निश्चय ही सत्य के धरातल पर आना पड़ेगा।

उपसंहार रूप में यह कहना चाहता हूँ कि बाह्य सुखो में लिप्त होकर, इन्द्रियो की लालसाओ मे मुग्ध बनकर जीवन को समाप्त कर देने मे मनुष्यता की विशेषता नही, अपितु महान् विभूतियों के आदर्श अपने समक्ष रखकर उनके बताये हुए सुष्ठु पथ का अनुकरण करने में ही मानव-जीवन की जीत रही हुई है। हम अपनी सारी शक्तियो को भगवान् की सच्ची चरण-सेवा में लगा देंगे और दु खी मानव समाज के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देगे तभी हम जीवन की सार्थकता के क्षेत्र मे यत्किंचित् सम्मानप्रद स्थान प्राप्त कर सकते है। 'भगवान् की चरण-सेवा' वस्तुत निजात्मा तथा प्राणी समुदाय की सच्ची सेवा का ही दूसरा नाम है।

लाल भवन, जयपुर] [२-१०-४६

: १० :

जीवन के ताप और उनसे मुक्ति

जय जय जिन त्रिभुवन धणी।
श्री दृढ़रथ नृप तो पिता, नन्दा थांरी मांय।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय॥ जय०...

प्रार्थना वही व्यक्ति करता है, जो किसी भी ताप से तप्त है। ताप-तप्त प्राणी शान्ति चाहता है और जब विविध प्रवृत्तियों द्वारा उसे शान्ति नहीं मिलती, शीतलता का अनुभव नहीं होता तो वह ऐसी महान् विभूति से प्रार्थना करना चाहता है, जिन्होंने जगत् को खुद चलकर ताप-शान्ति का मार्ग बताया हो। कवि के शब्दों में हम भी प्रार्थना कर रहे हैं, किन्तु क्या यह पहिचान लिया गया है कि हम किस प्रकार के ताप से तप्त हैं और किस प्रकार की शान्ति व शीतलता का रसास्वादन करना चाहते हैं?

अलग २ मस्तिष्कों में कई तरह के ताप का विचार आ रहा होगा। अभी गर्मी की मौसम है, कोई सूर्य तापसे घबराया

हुआ वृक्ष की शीतल छाया में शान्ति अनुभव कर सकता है। ज्वर-ताप से कोई तप्त है तो औषधि उसे सन्तुष्ट कर सकती है और इसी तरह किसी के शरीर में ऊष्णता का ताप है तो चन्दनादि के विलेपन से शीतलता का आनन्द उठाया जा सकता है। मानापमान का ताप चढ़ा हुआ है तो मनुष्य वकीलों की सहायता से कचहरियों में उसे उतारने की चेष्टा करता है। किन्तु यह गंभीरता से सोचने का विषय है कि क्या इनके सिवाय कोई अन्य ताप भी हमको सता रहा है क्योंकि हम भगवान शीतलनाथ जी से ताप-शान्ति की प्रार्थना कर रहे हैं। जब चिकित्सक के सामने जाने पर रोगी खुल कर अपने रोग की दुख की गाथा सुनाता है कि उसकी चिकित्सा सम्यक् प्रकारेण की जा सके। इसी तरह हमें भी अपने ताप का पूरा ज्ञान करके सरल हृदय से अपनी सारी वास्तविकता को अपनी प्रार्थना में प्रकट कर देना चाहिये ताकि सत्य वास्तविकता के प्रकट होने की अवस्था में प्रार्थना का पूर्ण प्रभाव हमारे हृदय पर हो सकेगा।

इस गम्भीर ताप के सम्बन्ध में स्वयं कवि विनयचन्द जी ने ही आगे स्पष्टीकरण किया है —

'विषय कषाय नी उपनी मेटो भव-दुःख ताप"

कवि का आशय यह है कि विषय और कषाय से उत्पन्न ताप ही आन्तरिक दाहकारी होता है और आत्मा को पतित बनाकर उसे दुःख के अनन्त चक्र में भटकने के लिये छोड़ देता

है। विषय और कषाय को आचरित करने मे व्यक्ति को सहजता प्रतीत होती है, किन्तु इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर ताप उत्तन्न करता है और उससे उत्पन्न ताप ही संसार के सर्व दुःखो का मूल होता है।

यह सत्य है कि मनुष्य दु.ख से छूटना चाहता है किन्तु यह उससे भी अधिक सत्य है कि जब तक दुखोत्पत्ति के कारण स्पष्टतः न समझ लिये जायं, तब तक दुःख से मुक्त नही हुआ जा सकता। उन कारणो को न समझने की अवस्था में प्राणी उन्हीं कार्यों को पुनः २ करता चला जाता है, जिनसे भयंकर तापमय दु'ख पैदा होते है। सच्चे हृदय से दुःख का सही कारण जान लेने पर कोई भी विवेकशील प्राणी दुःखोत्पादक कार्य नही कर सकता। जब कोई व्यक्ति समझता है कि सर्प को छेड़ने से वह काट खाता है और उसका जहर चढ़ जाने से मृत्यु हो जाती है तो कोई भी ऐसा नही मिलेगा, जो जहरीले सांप को पकड़े और उसकी डाढों के बीच में अपना हाथ डाल दे। इसी तरह अग्नि को भी कोई छूना नहीं चाहता।

किन्तु प्राणी के विषय व कषाय मे फंसने की स्थिति व समझ कुछ दूसरी ही है। विषय व कषाय के आचरण को सुख का साधन समझा जाता है। विषय का उपभोग करते समय वह स्वयं को आनन्दित होते हुए मानता है और उसमें लुब्ध होकर अपने हिताहित के भान को भुला देता है। इन्द्रियों के विभिन्न स्वादों मे वह रमण करता है और अपनी इन्द्रियों द्वारा

विषय-विकास करने के प्रयत्नों में जुट जाता है। सुमधुर कंठ का वह गीत सुनकर ही प्रसन्न नहीं होता, बल्कि यह भी चाहता है कि उसकी गायन कला भी ऐसी हो कि सर्वत्र उसकी भूरि भूरि प्रशंसा हो।

तो क्या यह मान लिया जाय कि विषय, सुख का कारण है? इससे पहिले हमें सुख की परिभाषा समझ लेनी चाहिये। सच्चा सुख उसे ही कहा जा सकता है, जिसका सुखमय प्रभाव सदैव व सर्वत्र एक सा रहे तथा किसी भी बाहरी बाधा द्वारा जिसे विनष्ट न किया जा सके। इसी कसौटी पर इन्द्रियजन्य सुख अर्थात विषय-सुख को भी कसना पड़ेगा। पहले, इन्द्रियों

अत' विषय-जन्य सुख सुख नही सुखाभास के रूप है। इनमें फंसने वाले की वैसी ही नादानी है, जैसे कोई चमकते हुए पीतल को सोना समझ कर खरीद लें।

इस रूप मे विषय भी एक ताप है, क्योंकि अनुकूल स्थिति मे राग तथा प्रतिकूल वातावरण मे द्वेष उत्पन्न होता है। बाह्य पदार्थों के अनुभव में इसलिये साम्य भावना लाये विना इस ताप से शान्ति प्राप्त नही हो सकती। इस ताप के नष्ट होने पर "पर द्रव्येषु लोष्टवत् तथा आत्मवत् सर्व भूतेषु" हो जाता है। फिर ज्ञानी पुरुषों को जंगल और नगर निवास में कोई अन्तर मालूम नही होता।

जहाँ न समुचित खान-पान, न निवास योग्य झोंपड़ी तथा विछाने को घास व ओढ़ने को आकाश है, वहाँ भी उन्हें वह सुख प्राप्त होता है, जो ऐश्वर्यमय प्रासादों मे भी अनुभव नहीं होता। अतः यदि सुख के मुलम्मे से लगा हुआ दु ख का वंडल नही चाहिये तो वाह्य पदार्थों के अनुभव में सन्तुलन व संयम की भावना का विकास करना चाहिये। विषयों में लगी हुई लोलुपता ही ताप को उत्पन्न करती है। यह नियम है कि धोखे की चीज ज्यादा लुभावनी होती है और इसीलिये प्राणी विषयों के जाल मे वडी आसानी से फंस जाता है। जो चमकता है, वह सोना नही होता वल्कि अधिक चमकने वाला साधारणत' धोखा ही होता है। पूरी गगरी चुपचाप जानेवाली होती है अतः। सच्चे सुख मे गांभीर्य व अलौकिक आनन्द की आभा वर्तमान

होती है। इस प्रकार विषय आत्म विकासके लिये विष-स्वरूप है।

दूसरा ताप कषाय का है। कषाय उन मनोभावों को कहते हैं, जिनसे आत्मा का अधिकाधिक अधःपतन ही होतो रहता है। जैनागमों मे कषाय के चार भेद कहे गये—क्रोध, मान, माया और लोभ। चारों मनोविकारों मे प्राणी निजत्व को भूल कर अंधा हो जाता है और इसीलिये इन चारों मनोविकारो का लौकिक व्यवहार में भी बुरा असर होता है तथा आत्म-विकास के लिये भी चारों घातक है।

क्रोध को ही लीजिये, मनुष्य को अपना भान भुला देता है। इस उत्तेजना के वशीभूत होकर वह न जाने क्या २ विगाड कर वैठता है और अपना व दूसरों का भारी अहित कर डालता है। जैसे लाल अंगारों को उठाकर दूसरों पर फेकने वाले की स्थिति होती है कि पहले तो उसका ही हाथ जलता है, उसी तरह क्रोधी भी पहले अपना बिगाड करता है। दूसरों पर तो वह अंगारा लगे या नही, या पानी पर पड़े तो शान्त ही हो जावे—यह दूसरी बात है। इंगलैंड की एक घटना है कि एक साहव घुड़दौड़ में खेल रहा था। उसने दूसरे से १५ हजार पौंड की शर्त की। खेल में एक की हार और एक की जीत होती ही है। दूसरा जीत गया। वह जीता हुआ फिर दूसरे से खेला और उससे भी जीत गया। पहले हारा हुआ व्यक्ति अपनी हार से कुढ़ रहा था। दूसरी वक्त वह दूसरे से जीत गया तो उसे

उस पर ईर्ष्या होने लगी। तीसरे से वह जीता हुआ और खेला, उसमें भी वह विजयी हुआ और ४५ हजार पौंड जीत गया। इस तीसरे से और जीतने पर पहले हारने वाले व्यक्ति को इस पर द्वेष उत्पन्न हो गया। उसका क्रोध इतना बढ़ा कि उसे उस जीतने वाले को उसी समय मार डालने की इच्छा हुई। किन्तु बलवान के सामने उस समय वह कुछ नही कर सका। जब वह घर पहुँचा और उसकी स्त्री चाय व नाश्ता लेकर सामने आई तो अकारण ही झल्ला उठा और कप तस्तरी उसने इधर उधर फेक दिये। रूई के अन्दर की ज्वाला छिपी नही रह सकती और स्त्री ने पहिचान लिया कि आज इनकी आंखों में खून उतर रहा है। उसने जल्दी से उन्हें कमरे में बन्द कर दिया ताकि किसीको नुकसान न पहुँचा सके। साहब का गुस्सा इस पर तो और भी भडक उठा। कमरे का सामान इधर उधर फेकने लगे और जब कोई वश नही चला तो उन्होंने अपने ही हाथ को जोरों से काट खाया। खून निकलने से बेहाश हो गये। सुबह जब होश आया तो उनकी स्त्री ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार का क्रोध सर्वथा निरर्थक था।

क्रोध में ऐसा ही अन्धापन होता है। वह तो मांसाहारी था, किन्तु आप लोग तो मांसाहारी नहीं है, फिर भी क्या घर में कभी थाली लोटा नही फेंकते? बच्चों पर अपना गुस्सा नहीं निकालते? मैं आपसे ही क्या कहूँ, हम साधु लोग भी कुछ अपमान व विपरीत परिस्थिति के आनेपर क्रोध से झल्ला उठते

हैं। किन्तु इन वृत्तियों पर हमारा नियंत्रण करने का प्रयास न हो तो केवल सिर मुंडाने से ही साधुत्व नहीं आ जाता। क्रोध का एक वेग जीवन भर की साधना के मूल्य को घटा देता है। क्रोध आ भी जाय तो उसके बाद क्षमा और प्रायश्चित्त से उसका प्रतिशोधन कर लेना चाहिये। उपशमन और निरोध करते हुए क्रोध की वृत्ति को समूल नष्ट करने की ओर ही साधुओं की प्रवृत्ति होनी चाहिये। शास्त्रमें भी कहा गया है –

जो उवसमई तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमई, तस्स नत्थि आराहणा॥

एक बार गौतम स्वामी विचरण करते हुए जंगल से गुजर रहे थे। एक खेत पर उन्हें एक कृषक ने भिक्षा दी और उसी समय गौतम स्वामी की शान्त एवं दिव्य मुखाकृति देखकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनके पास दीक्षित हो गया। उस नव कृषक मुनिको साथ लेकर गौतम स्वामी आगे चलने लगे तो उसने पूछा—आगे आप कहां पधार रहे हैं ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया कि मैं अपने धर्मगुरु भगवान् महावीर स्वामी के पास जा रहा हूँ। कृषक मुनि आश्चर्य करने लगे कि ऐसे भव्य मुनि के गुरु कितने भव्य होंगे ? किन्तु ज्योंही दोनों समवसरण में पहुँचे और कृषक मुनि की दृष्टि भगवान् पर पड़ी कि वह यकायक क्रोधित हो उठा और अपने दीक्षा के उपकरण उनके ऊपर फेंकता हुआ शीघ्र ही वहां से चला गया।

परम शान्तमूर्ति भगवान् के सामने उसके इस कृत्य से आश्चर्यान्वित होकर गौतम स्वामी ने नम्रता से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आपके समक्ष तो क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी शान्त हो जाता है और यह कृषक मुनि मेरे साथ तो शान्ति से आ रहा था और आपको देखते ही क्रोधित हो उठा— इसका क्या कारण है ?

भगवान् ने सबके संशय को मिटाने के लिये गौतम स्वामी की तरफ देखा और पूर्वभव का जिक्र करते हुए कहा कि एक भव मे मैं त्रिपृष्ठ वासुदेव था और तू मेरा सारथी था। एक समय प्रतिवासुदेव की मेरे पिता के पास एक भयंकर त्रास देने वाले सिंह को मारने की आज्ञा आई। उस समय मैंने पिताजी से उस छोटे काम को मुझ पर ही डाल देने की अनुनय-विनय की और आखिर उसे उन्होंने मान ली। मैं और तुम उस जंगल में पहुंचे, जहां वह विशाल सिंह रहता था। गुफा के द्वार पर पहुंच मैंने उसे ललकारा और उस सिंहके समक्ष एक वीर की तरह लडने के लिये मैंने भी अपना रथ और अपने शस्त्र छोड़ दिये। जमकर दोनों में लडाई हुई और मैंने उस सिंह को घायल कर दिया। उस समय सिंह मेरे पर अत्यन्त क्रोधित हो रहा था। तुम्हें सिंह की घायल दशा देख कर दया आ गई और तुमने उसे सान्त्वना देते हुए णवकार मंत्र सुनाना शुरू किया। फिर भी तुम्हारे पर प्रेम दृष्टि हो जाने के बावजूद भी मरते समय तक मेरे प्रति उसका क्रोध बराबर बना रहा। उसी सिंह

का जीव यह कृपक मुनि है अत उस भव की भावना इसकी अभी तक बनी हुई है।

इस प्रकार हम देखते है कि क्रोध का प्रभाव कितना स्थायी बना रहा जब कि वह कृषक मुनि का जीव उस पर उशपम न कर सका। यह क्रोध बहुत बड़ा ताप है और जब तक इसे उपशम करते हुए क्षय नही किया जायगा, आत्म-विकास की सीढ़ियों पर नही चढ़ा जा सकता।

मान का ताप भी क्रोध से कम नही है और इसका प्रत्यक्ष भयंकर प्रभाव हम बाहुबलि मुनि के जीवन मे देखते है। इसी मान के कारण उनका विकास अवरुद्ध हो गया। कठोर तपस्या व तीव्र आत्म-साधना और उच्चपद की ओर अग्रसर होने पर भी वे दीक्षा में वृद्ध अपने छोटे भाईयो के पास जाने के मान को न तोड़ सके। इसलिये उनकी साधना इतनी कठोर होते हुए भी कि उनका शरीर चीटियों के बिलों और पक्षियों के घोंसलों से ढक गया, मुक्ति न मिल सकी। आखिरकार भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी सुन्दरी अपनी दोनों कन्या-साध्वियों को उनके पास भेजा। उन्होंने 'मुनि, गज थकी उतरो' के सन्देश से उनके कान खोले और जिस समय मुनि बाहुबलि का मान समाप्त हुआ, तत्क्षण तभी उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। अत मान के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी आत्मा को कई स्थान पर गिराते हैं। वास्तव में नम्रता से ही जीवन मे सच्ची सुन्दरता आती है किन्तु मानभरी नम्रता की स्थिति वैसे ही होती है जैसी कि

सांप की नरम देह मे जहर की थैली। अतः नम्रता में सरलता का होना अत्यावश्यक है।

माया और लोभ भी कम बड़े ताप नही है। इन तापों के दारुण प्रभाव का अध्ययन करने के लिये हमको भूतकाल की ओर भी नही देखना पड़ेगा या किसी व्यक्ति विशेष को भी नही जानना पड़ेगा। आज के समाज का दयनीय चित्र इस ताप-तप्तता को प्रकट करता है। समाज का पूंजीपति वर्ग किस कुटिलता व मुनाफा वृत्ति से समाज के निर्वल अंग का क्रूर शोषण कर रहा है? आज के आर्थिक युग में देखा जाता है कि लोभ की पूर्ति अकेली नही की जाती क्योंकि बुद्धिमानी इसीमें समझी जाती है कि लोभ की पूर्ति माया के साथ की जाय कि ठगा जाने वाला रो भी नही सके। 'किसी भी तरह लाभ ही लाभ प्राप्त करना'—यह सत्य पूंजीपति समझते हैं और देश-भक्ति, धर्म-भक्ति या अन्य किसी भी गुण को ताक में रख कर वे हर तरह से शोषण करना चाहते हैं। यह उन पर माया व लोभ का भयंकर ताप छाया हुआ है। जब तक वे इस ताप से तप्त हैं, इसमें कोई सन्देह नही कि विना कोई चिकित्सा किये ताप वढ़ कर प्राणान्त तक का कष्ट पहुँचा सकता है।

अत' आज हमें विपय-कपाय के इस ताप का स्वरूप पहिचानना और यह ठीक तरह से जान लेना है कि ताप से तपने की स्थिति में समुचित चिकित्सा की शीघ्र चिन्ता करनी चाहिये। भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना का यही अभिप्राय है

कि उनके शीतल जीवन पर दृष्टिपात कर हम भी उनसे शान्ति व शीतलता ग्रहण करने का प्रयास करें। भगवान् का जीवन बताता है कि विषय के ताप को वैराग्य से, क्रोध के ताप को क्षमा, सहनशीलता तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से, मान के ताप को नम्रता व हार्दिक सरलता से, माया के ताप को सच्चाई व सौजन्य से तथा लोभ के ताप को सन्तोष, निष्काम वृत्ति एवं आत्म-स्वरूप के ज्ञान से शीतल बनाया जा सकता है। जीवन का प्रधान लक्ष्य परम शान्ति को प्राप्त करना है और उसके लिये ताप से मुक्ति पहली आवश्यकता है।

अग्रवाल जैन मन्दिर
नई दिल्ली]

: ११ :

शान्ति की शोध में

विश्वसेन राजाजी के नंदा ....

चारों ओर मृगी का भयंकर प्रकोप था। भारी संख्या मे मनुष्य अकाल में ही काल कवलित हो रहे थे। प्रजा इस प्रकार की असामयिक जन-हानि को सहन नही कर सकी और अपनी दु ख-दर्द की पुकार लेकर नृप विश्वसेन के पास पहुँची। विश्वसेन ने सब कुछ सुना और सहानुभूतिपूर्ण शब्दों मे शीघ्र उचित उपाय करने का आश्वासन दिया। उस समय प्रजा का राजा में पूर्ण विश्वास था अत उनमे निर्भयता व निश्चिन्तता का संचार हो गया कि फैली हुई तीव्र अशान्ति अब अविलम्ब ही समाप्त कर दी जायगी।

किन्तु राजा चिन्तित होने लगे कि अब क्या किया जाय? प्रजा के दुःख को वे अपना दु'ख समझते थे और इसीलिये उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक इस अशान्ति को समाप्त

करने में मैं सफलता प्राप्त न कर लूं, मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूंगा। यह प्रतिज्ञा दैव के विरुद्ध एक तरह के सत्याग्रह के रूप में थी। तन्मय हो राजा जनशान्ति के लिये प्रार्थना करने लगे।

भोजन का समय हो गया। दासी भोजन लेकर आई तो महाराज चिन्ताग्रस्त और ध्यानमग्न थे। भोजन के लिये उन्होंने इन्कार कर दिया। रानी ने हाल सुना तो उसे अत्यधिक व्यग्रता हुई। वह राजा के निकट आई और चरणस्पर्श करके उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। रानी ने चिन्ता का कारण पूछा। टालमटोल करते हुए आखिर राजा ने अपनी प्रतिज्ञा की चर्चा कर दी और रानी से आग्रह किया कि गर्भवती होने के कारण वह शीघ्र भोजनादि से निवृत्त हो जाय। रानी पूर्ण पतिव्रता थी। उसने कहा—बिना पतिदेव के भोजन किये मैंने आज तक भोजन नहीं किया है, फिर अब कैसे कर लूं? मैं भी आपके शान्ति प्रयासों में आपकी सहभागिनी बनूंगी। वहां से रानी एक एकान्त कक्ष में चली गई और सत्य शील-सम्पन्न आत्मीय गर्भ को स्मरण करके प्रार्थना करने लगी—हे महा-पुरुष! तुम सत्य शील के प्रभाव से मेरे गर्भमें आये हो। तुम्हारे प्रभाव से यह महामारी सर्वथा शान्त होकर जनता में फिर से नया जीवन आ जावे।

गर्भस्थ बालक और कोई नहीं स्वयं सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान थे जिनकी हमने अभी ही प्रार्थना की है।

वे शान्ति के अवतार थे। शान्ति-स्रोत से शान्ति का ही प्रवाह निकलेगा और इस तरह प्रजा मे महामारी के कारण जो अशान्ति मची हुई थी, वह तदनन्तर शान्त हो गई। गर्भस्थ बालक की ऐसी अद्‌भुत प्रतिभा देखकर राजा रानी ने उनका नाम शान्तिनाथ रखना—ऐसा तभी निश्चय कर लिया।

हम भी उनसे प्रार्थना कर रहे है, क्योंकि वे शान्ति के दातार है। जो जिस रास्ते पर चलकर उसे अच्छी तरह देख लेता है, फिर वह उस रास्ते को दूसरो को भी उसी तरह बता सकता है और जो इस तरह रास्ता जानता है, उसी से रास्ते का पता भी पूछा जाता है। भगवान् शान्तिनाथ, जिनका प्रभाव प्रारंभ से ही शान्तिमय रहा, शान्ति के अलौकिक पथ पर चल कर उन्होने आत्मिक—परम शान्ति को प्राप्त की और आज उनका जीवन हमारे लिये शान्ति-शिक्षक हो सकता है। यही कारण है कि शान्ति की उस तस्वीर को समझ सके, हमने उनसे शान्ति-लाभ की प्रार्थना की है।

किन्तु इसके साथ ही यह भी हमे समझना है कि केवल प्रार्थना करने से ही हमे पूर्ण शान्ति प्राप्त नही हो सकती। प्रार्थना की तन्मयता हमारे सामने उनके शान्तिमय जीवन का चित्र स्पष्ट कर देगी और हम भलीभाति जान जायेगे कि शान्ति का स्वरूप कैसा है और उसे प्राप्त करने का रास्ता कौनसा है? फिर शान्ति के प्रयासों के लिये तो हमे ही जूझना पडेगा और हर तरह से शान्ति के लिये बलिदान करने के लिये

हमें दृढ़ प्रतिज्ञ होना पड़ेगा। प्रार्थना कर्म के पहिले आवश्यक पूर्व ज्ञान से हमें भिज्ञ करके उसकी पृष्ठभूमिका का निर्माण करती है।

तो सर्वप्रथम हमें देखना है कि हम पहिले शान्ति के शोधक बने। हम शान्ति साम्राज्य के दृश्य को अपने नेत्रों के समक्ष पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दें। भगवान् शान्तिनाथ ने शान्ति की शोध कहाँ की और उन्होंने शान्ति का स्वामित्व कैसे प्राप्त कर लिया?

चईत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढियो।
शान्ति शान्ति करे लोए पत्तो गई मणुत्तरं॥

भगवान शान्तिनाथ ने अशान्त विश्व को शान्तिमय बनाने के लिये अपने अतुलित वैभव व चक्रवर्ती के शक्तिशाली पद का परित्याग कर दिया एवं निज के बलिदान से दूसरों को शान्ति देने का प्रयास किया और आखिरकार वे संसार को एक शान्तिप्रद नया मार्ग दिखलाने में सफल हुए। यह विचारणीय विषय है इस दुनिया के लिये, जो भौतिकवाद के पीछे पागल हो रही है कि जब उन्होंने सुख देने वाले महान ऐश्वर्य को तो त्याग दिया, फिर उन्हें शान्ति का रसास्वादन कैसे हुआ? आपको तो इच्छा होती है कि यदि हजार रुपये हों तो लाख रुपये हो जाय किसी भी तरह से जल्दी से जल्दी बगला बनवा लूं कार ले आऊं और फिर सुखी जीवन में शान्ति आ जायगी।

आज ऐसी ही शान्ति को शान्ति समझ कर सब जगह समाज व विश्व मे अन्याय तथा अत्याचार का लज्जाजनक वातावरण छाया हुआ है। चेतन समाज मे जड़ अर्थ को प्रमुखता देकर निश्चय ही वास्तविकता को भुला दिया गया है। समाज मे पूजी की भूख भेड़िये की भूख की तरह हो रही है। आज के पूंजी हस्तगत करने के साधनो मे निर्ममता है, क्रूरता है और स्पष्ट शब्दो मे कहा जाय कि मानवता का विनाश और दानवता का रूप ग्रहण है। अर्थ की शक्ति को ही प्रधान शक्ति मान कर अर्थ-सम्पन्न वर्ग बहुसंख्यक अर्थहीन वर्ग को लूटता-खसोटता है और उन्हे अपने अधिकारों से वचित कर समाज मे जानवरो से भी बदतर जिन्दगी बसर करने के लिये छोड देता है। उसकी तड़प पर अट्टहास करता है, फिर दानवता ही तो बढ़ सकती है।

विश्व के वर्तमान प्रांगण मे भी इसी अर्थ-लिप्सा,—साम्राज्यवादी लालसा, का प्राधान्य छाया हुआ है। शक्ति गुटों मे बंट कर दुनिया पिछडे हुए राष्ट्रों की दासता की कठोर कड़ियां तैयार कर रही है। शक्तिशाली राष्ट्र अपना कर्त्तव्य समझने लगा है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग अपनी सीमाएं, अपनी पूंजी और अपना प्रभाव बढ़ाने मे करे और पिछड़े हुए देशों के पिछडेपन से तथा संकट मे पड़े हुए देश के संकट से फायदा उठाकर उसपर आर्थिक गुलामी का जुआ डाला जाय ताकि वे राष्ट्र सदियों के लिये दबे रहें और वहाके

निवासी स्वतंत्रता के लिये आवाज न उठा सकें। यह सब जो होता है, मानवता की स्पष्ट हत्या ही तो है।

समाज और विश्व की यह भौतिकवादी दौड़, हम अपने वर्तमान से ही देखें कि कैसी अशान्ति पैदा कर रही है? आज समाज और विश्व में अशान्ति की जो भीषण ज्वालाएं जल रही हैं, उनसे कोई भी अपरिचित नहीं। समाज वर्ग-विभेद से जल रहा है तो विश्व में साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा लगाई गई युद्धाग्नि प्रज्वलित हो रही है। कहीं भी शान्ति का सुखमय वातावरण नहीं दिखाई देता। फिर समझ में नहीं आता, आप लोग अर्थ के पीछे अपने निजत्व को कैसे विस्मृत कर जाते हैं? पैसे का पागलपन अपने दिल में समाकर कैसे उन आदर्शों से परे हो जाते हैं, जिनमें ही सुखमय मानवता और सच्ची शान्ति का निवास है? भगवान् शान्तिनाथ को सच्ची शान्ति का पथ प्रकाशमान करना था, इसलिये ही उन्होंने सबसे पहिले अपने छः खंड के साम्राज्य और अपनी वैभवपूर्ण ऋद्धि-सिद्धि को ठोकर लगाई। आध्यात्मिक मार्ग पर अपने कदम बढ़ाते हुए उन्होंने राग-द्वेष, मोह माया, तृष्णा आदि मनोविकारों से उत्पन्न अशान्ति को भी समाप्त कर डाला। पूर्ण शान्ति के वे प्रकाशमान स्तंभ आज भी हमको शान्ति का अमर सन्देश दे रहे हैं।

पर शान्ति की ओर हमारा लक्ष्य कहां है? जैसा कि मैं ऊपर ही कह चुका हूं कि सब समाज और विश्व में अशान्ति

की भीषण आग जल रही है तो व्यक्ति तो उस अशान्ति की जड है। चूंकि व्यक्तियों का समूहगत नाम ही समाज है, इस अशान्ति का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति पर है और यह उत्तरदायित्व हमे स्पष्ट दिखाई देगा कि जो शोषित है, पीडित है, किसी भी तरह से दु खी हैवह भी अशान्त है, किन्तु जो शक्तिशाली है. सम्पन्न है व अधिकार एवं सत्ता से अभिभूषित है, वह भी अपने को अशान्त मानता है। इतना ही नही, जो साधु सांसारिक कामनाओं के प्रपंच से उन्मुक्त होकर दीक्षित हो जाता है, वह भी समय २ पर छोटी २ वातों से अपने आपको अशान्त बना लेता है। इस तरह आज हमारे लिये शान्ति एक इतने दूर की मंजिल हो गई है कि कठोर साधना व संयुक्त कर्मशीलता के बल पर ही उस मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। शान्तिपथ की साधना की जिम्मेदारी हम साधुओं पर अधिक है। संसार-चक्र मे फंसा हुआ गृहस्थ पग २ पर अपनी शान्ति को खो बैठता है तो वह किन्ही अवस्थाओं मे क्षम्य कहा जा सकता है किन्तु हम साधु, जिन्हें अशान्ति का कोई कारण नहीं, यदि अशान्ति के दलदल मे फंसते है तो निश्चय ही हम क्षम्य नही है और उस उत्तरदायित्व को हमे गंभीरता से महसूस करना चाहिये। हम अशान्त जनता को शान्ति का सन्देश सुनाने वाले स्वयं शान्ति से कोसों दूर रहें तो क्या यह स्थिति हमारे लिये किसी भी रूप मे शोभनीय कही जा सकती है?

इस प्रकार शान्ति की आवश्यकता को महसूस करते हुए हर तरह की अशान्ति का हमे मुकाविला करना है। एक व्यक्ति के लिये कई तरह की अशान्ति हो सकती है, किन्तु व्यक्तिगत अशान्ति को तीन मुख्य शीर्षकों के नीचे लिया जा सकता है—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक तथा (३) आध्यात्मिक अशान्ति।

पृथ्वी, जल, तेज आदि पंच तत्वो से बने हुए शरीर को भौतिक शरीर कहते है। इन्ही पंच तत्वों को जैन दर्शन मे पुद्गलास्तिकाय कहा गया है। ऐसे भौतिक शरीर मे स्वकर्म-वशात् या अकस्मात् किसी भी प्रकार की आधिव्याधि उत्पन्न हो जावे, उसे आधिभौतिक अशान्ति कहते है। शरीर इस समय पूर्ण स्वस्थ है, परन्तु दूसरे ही क्षण अकस्मात् दैवी आपत्ति से जो अशान्ति उत्पन्न हो सकती है, उसे आधि-दैविक अशान्ति कहते हैं। इसी प्रकार प्रिय वस्तु का वियोग या अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर जो चिन्ता व आन्तरिक वेदना होती है, उसे आध्यात्मिक अशान्ति कहते हैं। मानसिक दु ख ही आध्यात्मिक अशान्ति का मूल कारण होता है। इसके साथ ही जिसका मन बली होता है वह आधिभौतिक या आधि-दैविक अशान्ति मे भी विचलित नहीं हो सकता। महावीर स्वामी ने १२॥ वर्ष तक तप किया मुनि गजसुकमाल के सिर पर दहदहाते अंगारे रख दिये गये, किन्तु बलवान मनोबल के कारण उन्होंने कोई कष्ट अनुभव तक नहीं किया। आजकल

गृहस्थो की तो बात छोड़िये, साधु भी मामूली सा सिरदर्द हुआ कि हाय हाय करने लग जाते है। मानसिक शिक्षण का महत्त्व जैसे वे जानते ही नही। हमारे पूज्य गुरुदेव जवाहिराचार्य को अन्तिमावस्था मे जब जहरीले फोड़े मे छिद्र छिद्र हो जाने के कारण असाध्य एवं असह्य पीड़ा होने लगी कि देखने वाले को भी एक बार रोमाच हो उठता था, तब भी गुरुदेव के मुख से उफ् तक नही निकला। अन्त तक वे सफल खिलाड़ी की तरह वेदना व दुखाभास को पीछे खदेड़ते थे। वे ज्ञानी थे और हंसते २ शरीर के खेल को देखते रहे। उनकी मुखाकृति किसी भी तरह मलिन नही हुई, अपितु शान्ति की एक विचित्र आभा से अन्त तक देदीप्यमान रही।

व्यक्ति के लिये निजी शान्ति को बनाये रखना बहुत कुछ मस्तिष्क के निर्माण पर निर्भर रहता है। मानसिक संतुलन को बनाये रखने का जो अभ्यास कर ले तो उसे कभी किसी तरह की अशान्ति सता ही नही सकती। मस्तिष्क की कमजोरी से चिन्ता व उदासी का वातावरण बनता है। मस्तिष्क अगर मजबूत है तो आपत्तियो की घबडाहट के बीच रहते हुए भी उनके प्रति किसी भी दु ख का अनुभव नही किया जा सकता और विपरीत स्थिति मे कमजोर मस्तिष्क आपत्तियो के अभाव मे भी केवल शंका कर २ के अपने लिये दु खो का पहाड़ खड़ा कर देता है। जीवन मे उतार चढ़ाव आते ही रहते है और उनमें समान अवस्था का अनुभव करने से मानसिक सन्तुलन

का निर्माण किया जा सकता है। दुनिया के सब कामकाज करते हुए भी निजी शान्ति को बनाये रखा जा सकता है। कहते है, इंगलैंड का प्रधान मंत्री ग्लेड्स्टन जब अपने कार्यालय से निकलता तो प्रधानमंत्रित्व की समस्त चिन्ताओ को वही छोड़ देता और अपने शान्ति मन्दिर (Temple of Peace) में शान्ति की आराधना करता। यह तभी हो सकता है जब कि तेल के कटोरे की ओर ध्यान रखते हुए ऋषभदेव भगवान् की निन्दा करने वाले व्यक्ति ने नाटक तमाशे भी देखे होगे, फिर भी उसका ध्यान तेल के कटोरे से नही हटा। वैसे ही शान्ति का एक लक्ष्य रखते हुए कर्त्तव्य भावना से न कि लुब्ध वृत्ति से सासारिक क्रियाएं की जायं।

.'अन्तरगत भाटो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल॥"

ऐसी मानसिक वृत्ति के आधार पर ही मनुष्य अशान्ति से चलायमान नहीं हो सकता। आजकल बहुत सी बहिनें आध्यात्मिक अशान्ति स्वयं पैदा करती है। एक समय किसी बहिन के पति रुग्ण थे। काफी उपचार कराने पर भी वे स्वस्थ नही हो सके। यहांतक कि एक दिन उनकी मरणासन्न अवस्था हो गई। बोली बन्द हो गई और केवल श्वास चल रहा था। मै उन्हें मंगलिक सुनाने गया तो देखता हूँ कि घर मे औरतें रो रही है, जब कि उनका श्वास चल रहा था। रोनेवाले यह ध्यान नहीं रखते कि रोने से बीमार की गति बिगड़ती ही है। मरने के बाद कई दिनो तक जोर २ से रोने का जो रिवाज है, वह

बुरी रीति है और अधिकाधिक आध्यात्मिक अशान्ति को पैदा करती है। आप लोगो को निश्चय करना चाहिये कि इस प्रथा को शीघ्र खतम कर दे। इस प्रकार यह अस्थिर चित्तता बहिनो मे ही नही, भाइयो और कई साधुओं मे भी पाई जाती है। कई साधु अपने गुरु, चेले या साथी साधु के देहावसान पर विलाप करते है, चिन्तित होते है। यही अवस्था सतियो की भी है। किन्तु अशान्ति का स्वरूप समझ कर इस वृत्ति को खतम करने की ओर आगे बढ़ना चाहिये।

शान्ति जीवन-विकास के लिये एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क मे शान्ति के संचार का प्रयास नही करेगे, आपत्तियो के तूफान मे पड़ कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नहीं सकेगे। सच्ची शान्ति के लिये विकृत मनोविकारो का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोह-माया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियो का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शान्ति की परम स्थिति को पहुॅचे है, उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यो २ मनुष्य निजी स्वार्थो को भूल कर परहित मे अपने स्वार्थो को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों २ वह शान्ति की मजिल के समीप पहुंचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ मे निरत रहने पर जीवनाकाश को अशान्ति के बादल ही घेरे रहते है। इस रहस्य मे आत्म की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है।

का निर्माण किया जा सकता है। दुनिया के सब कामकाज करते हुए भी निजी शान्ति को बनाये रखा जा सकता है। कहते है, इंगलैंड का प्रधान मंत्री ग्लेड्स्टन जब अपने कार्यालय से निकलता तो प्रधानमंत्रित्व की समस्त चिन्ताओ को वही छोड़ देता और अपने शान्ति मन्दिर (Temple of Peace) मे शान्ति की आराधना करता। यह तभी हो सकता है जब कि तेल के कटोरे की ओर ध्यान रखते हुए ऋषभदेव भगवान् की निन्दा करने वाले व्यक्ति ने नाटक तमाशे भी देखे होगे, फिर भी उसका ध्यान तेल के कटोरे से नही हटा। वैसे ही शान्ति का एक लक्ष्य रखते हुए कर्त्तव्य भावना से न कि लुब्ध वृत्ति से सांसारिक क्रियाएं की जायं।

.. "अन्तरगत भाटो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल ॥"

ऐसी मानसिक वृत्ति के आधार पर ही मनुष्य अशान्ति से चलायमान नही हो सकता। आजकल बहुत सी बहिने आध्यात्मिक अशान्ति स्वयं पैदा करती है। एक समय किसी बहिन के पति रुग्ण थे। काफी उपचार कराने पर भी वे स्वस्थ नही हो सके। यहांतक कि एक दिन उनकी मरणासन्न अवस्था हो गई। बोली बन्द हो गई और केवल श्वास चल रहा था। मैं उन्हें मंगलिक सुनाने गया तो देखता हूँ कि घर मे औरतें रो रही है, जब कि उनका श्वास चल रहा था। रोनेवाले यह ध्यान नही रखते कि रोने से बीमार की गति बिगड़ती ही है। मरने के बाद कई दिनों तक जोर २ से रोने का जो रिवाज है, वह

बुरी रीति है और अधिकाधिक आध्यात्मिक अशान्ति को पैदा करती है। आप लोगो को निश्चय करना चाहिये कि इस प्रथा को शीघ्र खतम कर दे। इस प्रकार यह अस्थिर चित्तता बहिनो मे ही नही, भाइयो और कई साधुओ मे भी पाई जाती है। कई साधु अपने गुरु, चेले या साथी साधु के देहावसान पर विलाप करते है, चिन्तित होते है। यही अवस्था सतियो की भी है। किन्तु अशान्ति का स्वरूप समझ कर इस वृत्ति को खतम करने की ओर आगे बढ़ना चाहिये।

शान्ति जीवन-विकास के लिये एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क मे शान्ति के संचार का प्रयास नही करेगे, आपत्तियो के तूफान मे पड कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नहीं सकेगे। सच्ची शान्ति के लिये विकृत मनोविकारो का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोह-माया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियों का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शान्ति की परम स्थिति को पहुँचे है, उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यो २ मनुष्य निजी स्वार्थो को भूल कर परहित मे अपने स्वार्थों को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों २ वह शान्ति की मंजिल के समीप पहुंचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ मे निरत रहने पर जीवनाकाश को अशान्ति के बादल ही घेरे रहते है। इस रहस्य मे आत्म की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमे मिलता है।

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिये ऐसे कार्य सम्पादित करने मे उसे आनन्द व शान्ति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हलका करते हैं। अपने ही दृष्टिकोण से दूसरों के लिये सोचना—यह संकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है। चाहे इस दृष्टिकोण मे प्रत्यक्ष सुख दिखाई दे सकता है, किन्तु वह केवल सुखाभास होगा और क्षणिक होगा। दूसरो के ही दृष्टिकोण से अपने को भी सोचना—यह हृदय की विशालता का लक्षण है और चूंकि इसमे किसी भी प्रकार की विकृति की छाप नही होती, आत्मा को आन्तरिक सुख व स्थायी शान्ति प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि आन्तरिक स्थायी शान्ति का निवास स्वार्थ-त्याग तथा आत्म-बलिदान मे ही रहा हुआ है। पहली श्रेणी है कि अपने निजी स्वार्थों की भावनो को खत्म कर दिया जाय और तदनन्तर दूसरों के व्यापक हित के लिये अपना हर तरह का बलिदान प्रस्तुत किया जाय। यह बलिदान पथ कठोर अवश्य है, किन्तु बाहरी सुख और आन्तरिक शान्ति का कोई सम्बन्ध नही है। आन्तरिक शान्ति की साधना तो आत्मविसर्जन की भावना के साथ ही सफलतापूर्वक की जा सकती है। आत्मविसर्जन की चरम सीमो पर पहुँच के साथ ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त होता है, और यही कैवलल्य ज्ञान परम

शान्ति का मुखद्वार है। भगवान् शान्तिनाथ ने स्वयं आत्म-बलिदान का सुनहला आदर्श हमारे सामने रखा है।

शान्तिनाथ पूर्वभव मे मेघरथ नाम के राजा थे। वे बड़े ही शान्त, सहृदयी तथा परोपकारी थे। उनके परहितकारी स्वभाव की कीर्ति इन्द्रलोक तक पहुँच गई। एक वार इन्द्र ने अपने दरबार मे मेघरथ राजा की इस उत्तम वृत्ति की भूरि २ सराहना की। उस प्रशंसा को सुनकर एक देवता को वड़ा ही बुरा लगा। उसने सोचा—यह इन्द्र के द्वारा देवताओं का अपमान है। देवलोक मे निर्वल मनुष्य का गुणगान किया जा रहा है। उसने राजा मेघरथ को नीचा दिखा कर इन्द्र को लज्जित करने का निश्चय कर लिया।

देवमाया से उसने एक कबूतर का रूप धारण कर राजा मेघरथ के दरबार की ओर उड़ा। अपने पीछे २ ही एक को बाज बनाकर पीछे उड़ाया। जहां राजा वैठे हुए थे, कबूतर थर-थर कांपता हुआ उनकी गोद मे आ गिरा। राजा ने उसे भयभीत जानकर अपनी शरण मे ले लिया। पीछे से बाज आ ही पहुँचा। राजा से उसने अपना भक्ष्य मांगा। राजा ने शरणागत की हर तरह रक्षा करने का अपना धर्म वताया और बाज से कहा कि इसके वदले मे वह और कुछ मांग ले। बाज के मांगने पर राजा ने अपने ही शरीर का मास कबूतर के बरा-बर देना शुरू किया। यह तो परीक्षा थी और राजा उसमे सोने की तरह निखर उठे। आज मैं पूछूं कि हमारे देश में भी

कितने शरणागत (शरणार्थी) आये हुए हैं ? क्या उनके लिये आप उचित बलिदान कर रहे हैं ? शरणागत के लिये अपना सब कुछ निछावर कर देना भारत की आदर्श परम्परा है।

किन्तु आज आप लोगों को अपने राष्ट्र का भी गौरव कहाँ है। राष्ट्र के गौरव का तनिक भी खयाल नहीं है, इसलिये तो प्राचीन आदर्श राष्ट्र के बीच से उठते जा रहे हैं। आप दूसरे देशों में देखेंगे कि हर बच्चे २ को अपने देश का स्वाभिमान होता है और वह अपने देश की निन्दा अपने कानों से सुनना नहीं चाहता। यह राष्ट्र-प्रेम स्वातन्त्र्य आन्दोलनो मे भारत मे जगा, किन्तु आजादी मिलने से फिर ऐसा शिथिल वातावरण आ गया, जैसे सब कुछ पा लिया हो। चोर बाजारी और भ्रष्टाचारी क्यो पनपते हैं ? इसीलिये तो इन्हें राष्ट्र से भी ऊपर केवल अपने मुनाफे का ही खयाल होता है।

अत मेरा यही कहना है कि ऊँचे आदर्शों के लिये स्वार्थ-जय व त्याग अनिवार्य है और ऊँचे आदर्शों के फलस्वरूप ही परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। शान्ति ही जीवन का वास्तविक ध्येय है और यही ध्येय जीवन को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ा सकता है। भगवान् शान्तिनाथजी की प्रार्थना का यही रहस्य है कि उनके शान्तिमय जीवन से शान्ति की प्रेरणा लें और अपने जीवन में आन्तरिक सुख का संचार करें।

पोरवालो की धर्मशाला (शहर)] [ता० ९-६-४८

: १२ :

संसार की आधारगत समस्या

"प्रणमूं वार हजार, प्रभु त्रिभुवन तिलोजी।
सुमति सुमति दातार, महा महिमा निलोजी॥"

विश्व की समस्त समस्याओ का, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की हो, मूलतः एक ही हल है और वह है वौद्धिक तथा नैतिक। राजनीतिक व आर्थिक समस्याएँ समाज-विकास मे वाधक अवश्य वन सकती है, किन्तु वौद्धिक परिपक्वता व नैतिक सहृदयता के अभाव मे उक्त समस्याओ का हल भी समाज मे सच्चे सुख व स्थायी शान्ति की सृष्टि नही कर सकता। पूर्ण स्वतत्रता एक २ व्यक्ति के अपने कर्त्तव्य व अधिकारो के प्रति विवेकपूर्ण ढग से सजग होने मे ही उपलब्ध हो सकती है। जव तक वुद्धि का अभाव व उसकी विकृति का अस्तित्व रहेगा, समाज मे शोषण, उत्पीड़न तथा अन्याय की समाप्ति असंभव है। इसीलिये कवि सुमति प्रभु से प्रार्थना करता है कि उनके

आदर्श जीवन से विवेक व सुबुद्धि प्राप्त हो। श्रेष्ठ ज्ञान तथा सच्चा विवेक ही व्यक्तिगत व समाजगत दु:ख से विमुक्ति दिला कर विकास की दिशा मे प्रगमनशील बना सकता है। यह कितनी सुन्दर प्रार्थना है कि सभी पदार्थों की चाह से ऊपर हमे विवेक व सुबुद्धि प्राप्त करने की चाह है, ताकि सुबुद्धि के उस प्रकाश मे हम दैनिक जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्मावलोकन कर सके और उससे अपने अन्तर की कालिमा को पहिचानते हुए आदर्श पथ की ओर अपने कदम मोड सके।

इस समय मैं आप से एक प्रश्न करूँ कि आप सुमति चाहते है या सम्पत्ति ? आप दोनो चाहते है, किन्तु तुलसीदास जी कह चुके है कि—

जंह सुमति तंह सम्पत्ति नाना।
जंह कुमति तंह विपत्ति निदाना॥

सम्पत्ति की प्राप्ति भी सुमति पर निर्भर है। वह सम्पत्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, लेकिन दोनो की प्राप्ति का उद्देश्य बनाने के पहिले यह सोच लेना चाहिये कि अगर सुबुद्धि से—विवेक से काम नही लिया गया तो आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मिल ही नही सकती और एक बार भौतिक सम्पत्ति घातक तरीको से मिल भी गई तो वह टिक नही सकती पर बड़े बुरे परिणाम दिखाकर खतम हो जायगी।

आज चारो ओर दिखाई देता है कि अधिकतर सम्पत्ति प्राप्ति (भौतिक) की दौड लगी हुई है, किन्तु पहले सुमति

प्राप्ति हो—इसकी ओर बहुसंख्यक जनो का लक्ष्य नही है। बल्कि सम्पत्ति प्राप्ति मे कुमति से ही अधिक काम लिया जाता है और उसका परिणाम आज समाज मे फैली अनैतिकता, असमानता व अव्यवस्था मे देखा जा सकता है। मैं आपसे प्रश्न करूँ कि क्या आप केवल सम्पत्ति प्राप्ति के लिये ब्लेक मार्केट नही करते, भ्रष्टाचार नही बढाते, उन गरीबो के प्रति शोषण का खूनी चक्र नही चलाते, जो दरअसल सम्पत्ति को अपनी मिहनत से पैदा करते है और उपकार करने वालो के प्रति भी अपकार तो नही करते ? यह हृदय मे गहराई से सोचने की वस्तुस्थिति है। आप महसूस करते होंगे कि जैसा मैं कह रहा हूँ, किन्ही अंशोमे होता अवश्य है। किन्तु आज यह सोचना है कि यह सब क्यो किया जाता है ? क्या सच्चे हृदय और सद्विवेक से पहले सोच लिया जाय उन कार्यों के परिणाम के विषय मे, तो क्या संभव है कि चोरबाजारी जैसी राष्ट्र व धर्म विरोधी प्रवृत्तिया पनपती ही जाय ? जो सम्पत्ति कुमति से प्राप्त की जाती है, वह कभी भी प्राय शान्तिप्रदायक नही हो सकती वरन् वह तो अन्त मे कभी कभी जीवन विनाश का कारण हो जाती है।

रावण की यही प्रकृति थी। उसने सम्पत्ति रूपी सीता की इच्छा की किन्तु सद्विवेक रूपी राम को वह अपने पास नहीं फटकने देना चाहता था उसका फल आपसे अपरिचित नहीं।

सीता को तो प्राप्त कर ही नही सका, किन्तु अपने आपको उसने विनाश के गर्त में नीचे गिरा दिया।

भँवरे और मक्खी के सरल उदाहरण से हम सुमति और कुमति के स्वरूप को आसानी से समझ सकते हैं।

भँवरे की यह प्रकृति है कि जहां भी पुष्प विकसित हों, उसका सुगन्धमय पराग चारो ओर उड़ रहा हो, वह वहा बिना किसी नियंत्रण के स्वयमेव चला जाता है। वह गुनगुन की गुंजार करता हुआ अपने आपको तन्मय कर देता है। वह किसी भी हालत मे सुगन्ध को छोडकर दुर्गन्ध पर नही बैठना चाहता। वहां मक्खी भी है, जो मिश्री पर बैठी है, तुरन्त उसे छोडकर अशुची पर बैठ जाती है। उस अशुची के पास मे भले ही चन्दन की सुगन्ध भी महक रही हो, किन्तु वह उस तरफ नही देखती। इतना ही नहीं, अशुची के कीटाणु लेकर इधर उधर तरह २ की बीमारियो को भी फैलाती रहती है।

भ्रमर की प्रकृति की उपमा सुमति को दी जाती है। सुमति-वान् पुरुष सदैव सदाचरण व सत्कार्यों की ओर ही आकर्षित रहता है। अपनी सभी शक्तियो से परहित का एकमात्र दृष्टि-कोण रखता हुआ वह मन, वचन और काया को शुभ कार्यों मे नियोजित रखता है। उसका प्रत्येक कार्य दूसरो को सुख पहुंचाने वाला ही होता है। उसकी किसी भी इन्द्रिय से अशोभनीय व निन्दनीय कार्य नहीं होता। यह नहीं कि वह कान से दूसरों की निन्दा सुने, विकार भावनापूर्वक आंखो से

स्त्रियों को देखता फिरे या अश्लील सिनेमा आदि मे भटकता रहे, जिह्वा से अश्लील व मर्मकारी शब्द बोले, अभक्ष्य भोजन का उपयोग करे या नाना दुर्व्यसनो मे पडे अथवा हाथों से दूसरो की कैसी भी मानसिक व कायिक हिसा करे, क्योंकि उसका मन रूपी हाथी सुमति रूपी अंकुश से सदैव नियंत्रित रहता है।

मक्खी स्वयं ही दुर्गन्ध पर नही बैठती किन्तु उस दुर्गन्ध के कीटाणुओ से दूसरो को भी संक्रमित करती है उसी तरह बुरे आचरण वाले व्यक्ति अपनी कुमति द्वारा स्वयं का ही बिगाड नही करते किन्तु अपने संस्कारों की भद्दी छाप दूसरों पर भी डालते है। दुर्व्यसनो वाले पुरुप मक्खियों की तरह ही तो है। इस तरह हम देखते है कि सुमति के अभाव मे अच्छी चीज का भी दुरुपयोग ही होता है और हित के स्थान पर भी अहित होता है। वास्तविक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस जीवन विकास के लिये सुमति आत्मा के समान है।

आज विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायें तथा कई उप-सम्प्रदाये अनेक श्रेष्ठ सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए भी सुमति के अभाव में घृणा व उपहास की पात्र बनी हुई हैं। यह आवश्यक है कि सभी को विचार स्वतंत्रता हो तथा एक ही सनातन लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सभी मौलिक दृष्टि से सोच कर नई २ विचारधाराए प्रस्तुत करे। किन्तु यह विचार स्वतंत्रता केवल संघर्ष की ही कारणभूत रह जाय—यह लज्जाजनक वस्तुस्थिति

है। वहां यह सम्प्रदायवाद समाज विनाश के घुन के रूप मे हो जाता है जो विकास की जडों को खोखला करता रहता है। सम्प्रदायो के मतानुयायियो की कुमति ही विग्रह का कारण होती है। पद-मोह स्वसत्ता, निजी स्वार्थो के रक्षण की भावना व ऐसी ही आत्मघातक प्रवृत्तियो को पनपाने की अगुओ की लालसा सुमति का संचार नही होने देती कि सभी सम्प्रदाये एक लक्ष्य प्राप्ति हित परस्पर सहायक रूप मे आगे बढ़े।

इसी तरह वर्तमान राजनीति व समाज-नीतियाँ भी चन्द लोगो की स्वार्थपूर्ति की कुमति के कारण विशृखल व 'बहुजन-विनाशाय' साबित हो रही हैं। जिस राज्य-व्यवस्था की स्थापना का ध्येय शान्ति बतलाया जाता है, वही हिंसा व अनीति का कारण बन अनीति करने वालो की ही सहायक बन जाती है।

इन सबसे ऊपर कुमति के अन्धो ने धर्म तक को स्वार्थ का अखाडा बना दिया है। धर्म जो जीवन-निर्माण का आधार स्तंभ है, मनुष्यो के अविवेक से प्रवचना, आडम्बर और कलह का कारण बना हुआ है। दीक्षा के समय ही इतने आडम्बर किये जाते हैं कि कही २ तो वे विवाहोत्सवो को भी मात कर देते हैं। दीक्षा मे जहां वैराग्य का वातावरण होना चाहिये वहां भोगोपभोग व मोह की मूर्च्छा फैलाई जाती है। आजकल लोग बिना मकानों के फुटपाथों पर पड़े रहते हैं, वस्त्र और अन्न के अभाव में नंगे व भूखे रहते हैं, अनावश्यक रूप से ऐसे

आडम्बरो मे धन की होली जलाना राजद्रोह है। झूठी शान के लिये आडम्बरो पर व्यय करना धन को पानी की तरह बहाना है। कई साधु भी दीक्षोत्सव आदि ऐसे ही धर्म के नाम पर किये जानेवाले आडम्बरो को उत्तेजना देते है, किन्तु ऐसे प्रपचो मे पडने से धर्म की उन्नति नही होती, परन्तु निज का जीवन ही पतित होता है। साधु जीवन तो इन आडम्बरो व प्रपंचोंसे कतई दूर होना चाहिये। दीक्षोत्सवो के पक्ष मे कई लोगो की दलील होती है कि पहले भी तो ऐसे उत्सव होते थे और शास्त्रो मे स्थान २ पर उनका वर्णन आया है किन्तु आज की युग स्थिति को हम दृष्टि से परे नही कर सकते। केवल भूतकाल को देखने से ही धर्म की वृद्धि नही होती। धर्म का प्रचार इस युग में करना है, इसलिये यह आवश्यक है कि इस युग की आवश्यकताओ के साथ धर्म का सामजस्य स्थापित किया जाय। आज की समस्याओं को बडी गंभीरता से समझते हुए यह कर्त्तव्य होगा कि हम बताये कि धर्म इन सभी समस्याओ का सुन्दर रीति से हल निकाल सकता है। धर्म की विशेपता अहितकर पिटी हुई लकीर पर चलने मे नही है किन्तु नये २ प्रयोगा के समक्ष भी वही सनातन सत्य लिये हुए टिके रहने में उसकी सच्ची महत्ता रही हुई है। यह विशेपता प्रमाणित करना धर्मानुयायियों के हाथ मे है. जिसे वे अपनी सुमति के सहयोग से धर्म का सही लक्ष्य स्थिर रख रीति रिवाजों को समयानुकूल बनाते है

है। वहां यह सम्प्रदायवाद समाज विनाश के घुन के रूप मे हो जाता है. जो विकास की जड़ों को खोखला करता रहता है। सम्प्रदायों के मतानुयायियो की कुमति ही विग्रह का कारण होती है। पद-मोह, स्वसत्ता, निजी स्वार्थो के रक्षण की भावना व ऐसी ही आत्मघातक प्रवृत्तियों को पनपाने की अगुओं की लालसा सुमति का संचार नही होने देती कि सभी सम्प्रदाये एक लक्ष्य प्राप्ति हित परस्पर सहायक रूप मे आगे बढ़े।

इसी तरह वर्तमान राजनीति व समाज-नीतियॉ भी चन्द लोगों की स्वार्थपूर्ति की कुमति के कारण विश्रृंखल व 'बहुजन-विनाशाय' साबित हो रही हैं। जिस राज्य-व्यवस्था की स्थापना का ध्येय शान्ति बतलाया जाता है, वही हिंसा व अनीति का कारण बन अनीति करने वालो की ही सहायक बन जाती है।

इन सबसे ऊपर कुमति के अन्धो ने धर्म तक को स्वार्थ का अखाड़ा बना दिया है। धर्म जो जीवन-निर्माण का आधार स्तंभ है, मनुष्यों के अविवेक से प्रवंचनो, आडम्बर और कलह का कारण बना हुआ है। दीक्षा के समय ही इतने आडम्बर किये जाते है कि कही २ तो वे विवाहोत्सवो को भी मात कर देते है। दीक्षा मे जहां वैराग्य का वातावरण होना चाहिये वहां भोगोपभोग व मोह की मूर्च्छा फैलाई जाती है। आजकल लोग बिना मकानों के फुटपाथो पर पड़े रहते है, वस्त्र और अन्न के अभाव में नंगे व भूखे रहते है, अनावश्यक रूप से ऐसे

आडम्बरो मे धन की होली जलाना राजद्रोह है। झूठी शान के लिये आडम्बरो पर व्यय करना धन को पानी की तरह बहाना है। कई साधु भी दीक्षोत्सव आदि ऐसे ही धर्म के नाम पर किये जानेवाले आडम्बरो को उत्तेजना देते है, किन्तु ऐसे प्रपचो मे पडने से धर्म की उन्नति नही होती, परन्तु निज का जीवन ही पतित होता है। साधु जीवन तो इन आडम्बरो व प्रपंचोंसे कतई दूर होना चाहिये। दीक्षोत्सवो के पक्ष मे कई लोगो की दलील होती है कि पहले भी तो ऐसे उत्सव होते थे और शास्त्रो मे स्थान २ पर उनका वर्णन आया है किन्तु आज की युग स्थिति को हम दृष्टि से परे नही कर सकते। केवल भूतकाल को देखने से ही धर्म की वृद्धि नही होती। धर्म का प्रचार इस युग मे करना है, इसलिये यह आवश्यक है कि इस युग की आवश्यकताओ के साथ धर्म का सामजस्य स्थापित किया जाय। आज की समस्याओं को बडी गंभीरता से समझते हुए यह कर्त्तव्य होगा कि हम बताये कि धर्म इन सभी समस्याओ का सुन्दर रीति से हल निकाल सकता है। धर्म की विशेषता अहितकर पिटी हुई लकीर पर चलने मे नही है किन्तु नये २ प्रयोगा के समक्ष भी वही सनातन सत्य लिये हुए टिके रहने में उसकी सच्ची महत्ता रही हुई है। यह विशेपता प्रमाणित करना धर्मानुयायियों के हाथ मे है जिसे वे अपनी सुमति के सहयोग से धर्म का सही लक्ष्य स्थिर रख रीति रिवाजों को समयानुकूल बनाते है

भूतकाल की ओर ही जिनकी दृष्टि अड़ी हुई है, वे वर्तमान को देखकर घबड़ाते है कि अब क्या करे ? कलियुग आ गया है और मनुष्यो का जीवन विपरीत प्रवाह मे वह रहा है। किन्तु वे इस बात को नहीं सोचते कि यह कलियुग क्यो आया ? समय तो अपने प्रवाह से बहता ही रहता है, लेकिन मनुष्यों मे कुमति आई कि कलियुग आया और सुमति आई कि सतयुग आया। तो कलियुग और सतयुग का लाना तो हमारे ही हाथ मे है फिर दूसरों को दोष देने से क्या लाभ ? आवश्यकता इसकी है कि हम वर्तमान को समझे—सभी समस्याओ का गंभीरता से अध्ययन करे और फिर भूतकाल की प्राप्त सत्सिद्धान्तों रूपी सुमति की सहायता से सुन्दर भविष्य के निर्माण हित अग्रसर होवे। यही सुमति का श्रेष्ठ उपयोग हो सकता है। मनुष्य निजी स्थिति व सामाजिक स्थिति का स्वयमेव निर्माता है और सभी तरह के विकास की जड़ स्वयं होने से उसी पर इस बात का उत्तरदायित्व है कि चारों ओर पतन ही पतन के चिह्न क्यो दृष्टिगोचर होते हं ? उत्तरदायित्व कर्त्तव्य से पैदा होता है और इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने साथ २ सामाजिक हितो का ध्यान रखे और यह देखता रहे कि दोनो के हितो का कही संघर्ष न हो तथा जहाँ भी व्यक्तिगत व सामाजिक हितो मे अन्तर्क्लेश होता हो, वहाँ सामाजिक हितो को ही प्रधानता दी जाय। इसी दिशा में ज्यों २ मनुष्य निजी स्वार्थों को नियन्त्रित व

अल्प करता हुआ सामाजिक हितो के प्रति अधिकाधिक सजग होता चला जायगा, वही उसका धार्मिक व आध्यात्मिक अभ्युत्थान होता रहेगा। क्योंकि वैभाविक निजत्व का पूर्ण विसर्जन ही धार्मिक विकास की चरम सीमा है।

आज के इस गंभीर समय मे अपनी बुद्धि की आलोचना सर्वप्रथम आवश्यक हो जाती है; क्योकि बुद्धि का तनिक भी बिगाड़ हमारी व हमारे समाज की स्थिति को अधिक नाजुक बना सकता है। जैसा कि मै ऊपर कह चुका हूँ कि सारे ससार की आधारगत समस्या बौद्धिक व नैतिक है सुमति सम्पादन मे ससार का विकास समाया हुआ है। मति बौद्धिकता की ओर इंगित करती है तथा उसके पहले लगा हुआ 'सु' नैतिकता को सम्मिश्रित करता है अत 'सुमति' यह मूल समस्या है और यदि हमको हमारा निज का भविष्य और समाज का भविष्य उन्नत व आदर्श बनाना है तो हमे सुमति सम्पादन करने मे लग जाना चाहिये ताकि इस कलियुग के स्थान पर सतयुग का निर्माण किया जा सके और सुमति प्रभु की प्रार्थना करते हुए उनके निर्मल पद तक पहुँचा जा सके।

डिप्टीगंज सदर बाजार, दिल्ली] [६-५-५१

: १३ :

निजत्व को चीन्ह, रे चेतन !

७

जीव रे तूं पार्श्व जिनेश्वर वन्द...

विभिन्न आकार-प्रकार और स्वरूपों मे दिखाई देने वाला यह विशाल विश्व दो ही पदार्थों के संयोग से बना है—चेतन और जड। चेतन अकेला आत्मा है, जिसका स्वरूप अरूपी, अनादि और अनन्त है। किन्तु यह चेतन आत्मा जड के साथ सम्बद्ध होकर इस बनने, बिगड़ने और बदलने वाली दुनिया का निर्माण करता है। हम रातदिन देखते है—कोई जन्म लेता है, बढ़ता है, विभिन्न पदार्थों का उपभोग करता है और कृश-काय होता हुआ वृद्धत्व को प्राप्त कर मर जाता है तो क्या इससे यह समझे कि आत्मा के ये परिवर्तित रूप है और अन्त मे आत्मा नष्ट हो जाता है। जैसा कि आधुनिक भौतिकवादियो की मान्यता है कि यह सजीवता देहोत्पादन के साथ ही उत्पन्न होती है और देह के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाती है

किन्तु इस कथन की असत्यता के ये प्रमाण हैं कि पूर्वभव के स्मरण की कई घटनाएं देखने को मिलती हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कारण बिना कार्य की सभावना नहीं होती, फिर कई अनुभव और वेदनाए कई व्यक्तियों को ऐसी होती है कि उनका इस जन्म की घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं जोडा जा सकता, जैसे जड प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है वैसे चैतन्य भी प्रत्यक्षादी प्रमाणों से भलीभांति सिद्ध है, इस विषय को समझाने मे तीक्ष्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है। अत यहां इस प्रसंग को मैं लम्बा न कर यही कहना चाहता हूँ कि जड़ और चेतन के सम्बन्ध को हमे समझ कर चेतनता को जड़ बनाने से रोकना है। इसीलिये कवि विनयचन्द जी कहते हैं कि हे जीव-चेतन ! तू पार्श्व जिनेश्वर को नमस्कार कर !

अब प्रश्न उठता है कि यह नमस्कार क्यों किया जाय ? तो इसमे कवि का अभिप्राय यह है कि हे जीव ! तू स्वय भी चेतन स्वरूप वाला है और चैतन्य स्वरूप का विकास हमे जिनेश्वर मे ही दिखाई देता है अत इन्हें नमस्कार करने से हमे हमारे उद्देश्य की ओर बढ़ने मे प्रकाशमय आदर्श के दर्शन हो सकेंगे। चूंकि जड निज सुखदुखानुभूति आनन्दानुभव से शून्य है तथा आत्मा का मूल स्वभाव परमानन्द की तरफ गति करना और उसी मे रमण करना है अत जड और चेतन के सम्बन्ध मे स्वाभाविकता व स्थायित्व का निवास नहीं।

जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्तानुसार चेतन का शुद्ध स्वरूप

विमल व उसका स्वभाव ऊर्ध्वगामी है किन्तु कार्मण वर्गणा के पुद्गल जिन्हें कर्म कहा जाता है, आत्मा की विभिन्न प्रवृत्तियो के साथ संलग्न होते है और जड-चेतन का यह समागम आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर आवरण डालता रहता है। अतः जब तक आत्मा इस तरह सलग्न जड के समागम से अपने आपको मुक्त नही कर देता, उसे उसका चरम विकास प्राप्त नहीं हो सकता।

आज का युग प्रधान रूप से भौतिकवादी युग कहा जाता है। इस क्षेत्र मे पश्चिम पूर्व से काफी आगे बढ़ा हुआ है। यद्यपि पूर्व भी अब उसी दिशा की ओर तेजी से बढ़ने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु यहा पर युगो से फैली हुई आध्यात्मिक विचारधारा अब भी धार्मिक और नैतिक भावना को विनष्ट नही होने देती। पश्चिम मे सामाजिक विकास का मापदंड भी साधारण रूप से यही माना जाता है कि उसकी आर्थिक सम्पन्नता किस दर्जे तक पहुँच सकी है ?

यहा मै साम्यवाद के इस दृष्टिकोण की भी चर्चा कर दूं कि मानव समाज के वैज्ञानिक विकास मे आर्थिक स्थितियो के परिवर्तन को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और आज जो ससार मे अशान्ति छाई हुई है, उसके मूल मे भी आर्थिक समस्या ही रही हुई है। यह माना जा सकता है कि समाज में छाया हुआ अर्थ-वैषम्य और शोषण भी इस अशान्ति का एक कारण है परन्तु इस सत्य को हमे समझना ही होगा कि आज

आर्थिक समस्या से भा अधिक भयंकर समस्या जो हमारे सामने खड़ी है, वह है नैतिक समस्या। और जब तक इस समस्या की सुलझन के साधन नहीं जुटाये जाते तब तक आर्थिक समानता भी समाज मे शान्ति और सुख की स्थापना नहीं कर सकती। नैतिक समस्या को ठीक तरह से समझना ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर आगे बढ़ना है, क्योंकि आध्यात्मिक सजगता ही चेतनता को उद्बोधित करती है और समाज के विकास का धरातल चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। आज के भौतिकवादी पागल संसार को जड़-चेतन के विभेद को समझना ही होगा कि चेतनता का निवास जड से अलग और जड़ से ऊपर है। चेतन जड़ पर शासन कर सकता है किन्तु जड़ द्वारा शासित होने की अवस्था मे चेतनता का वास्तविक स्वरूप अवश्य ही लुप्तप्राय हो जायगा।

हमारा सच्चा विकास आत्मा के मूल स्वभाव का ज्ञान करने और उस स्वरूप की ओर गतिशील होने के लिये प्रयत्नरत होने में ही है। किन्तु आज हम कई भ्रमणाओं मे पड़ कर अपने मूल स्वभाव की विपरीत दिशा में ही भागने की कोशिश करते हैं। भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिये आत्मिक गुणो का क्रूरता-पूर्वक घात करते हैं और उनके प्राप्त होने पर आत्म विस्मृत हो हिताहित के भान से परे हो जाते हैं। आज आप देखेंगे—भौतिक पदार्थों से सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार मदान्ध होकर अपने से नीची श्रेणी के व्यक्ति समूह पर भारी अत्याचार ढाते

है ? देह की ऊपरी सुन्दरता ही भौतिकवादियो के आकर्षण और मुग्धावस्था की केन्द्र हो जाती है। आत्मिक सौन्दर्य मे उनका विश्वास नही होता। आज आप देखेगे कि दैहिक सुन्दरता को प्रवृद्ध करने के कितने कृत्रिम साधनों का आविष्कार हो गया है। क्रीम, पाउडर, स्नो और न जाने क्या २—आज की फैशन के अति आवश्यक अंग हो गये है। मैं सोचता हूँ, शहरों मे जितना मक्खन और दूध बिकता होगा, उससे अधिक कीमत की यह शृंगार सामग्री बिक जाती होगी ?

इसी प्रसंग मे मैं कहना चाहूंगा कि आज बाह्याडंबरों मे अन्तर की वास्तविकता को खो दिया गया है। आप दर्पण मे बार बार अपना मुख देखकर अपने सौन्दर्य का अनुमान लगाने की चेष्टा करते है, किन्तु यह कभी आपने सोचा है कि दर्पण मे दिखाई देने वाला सौन्दर्य नश्वर है या स्थायी, और ऐसा कौन सा सौन्दर्य है, जो स्थायी भी है ? आज भगवान के नाम पर बनाये गये मन्दिरो को भी बाहरी कला से इतना अधिक सुसज्जित किया जाता है कि अन्दर जाने वाले व्यक्ति की इन्द्रिया अपने भोगोपभोग के सर्व साधन प्राप्त कर वास्तविक जागरण की वृत्तियो को विस्मृत कर जाती है। कहना न होगा कि प्रत्येक क्षेत्र मे पौद्गलिक शक्ति ने चेतनता पर आधिपत्य जमा रखा है। यह आधिपत्य उसी तरह का है, जिस तरह एक गुलाम के साथ पहले के बादशाह बर्त्ताव किया करते थे। जड की लुब्धक व मोहक वृत्ति चेतन आत्मा को अपने ध्येय

से तो च्युत् करती ही है किन्तु इसके साथ ही उसे ऐसे विनाशकारी पतन की ओर आगे धकेलती है कि जहां से ऊपर उठना एक कठिन समस्या हो जाती है।

जिस जड़मूलक सुख में हम सुख मान बैठे हैं, वह केवल सुखाभास मात्र है और नित्य बदलने वाला है और बदलने का उसकी दिशा भी केवल दुःख एवं विनाश की ही दिशा होता है। जड़मूलक पदार्थों मे परिवर्तन होते है, किन्तु आत्मा के सत्य स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नही होता और यही कारण है कि आत्मा का चिरंतन सुख शाश्वतता मे है, जो पौद्गलिक सम्बन्ध से मुक्त होने पर ही आत्मा को प्राप्त हो सकता है।

इस सारी जड-चेतन की मीमांसा का सार यही है कि हम अपने स्वरूप पर गहन चिन्तन करे और उसकी वास्तविकता को समझें तथा महसूस करे। हमारा स्वरूप भी वही है, जो कि परमात्मा का है। जैसा कि मैं ऊपर ही कह चुका हूँ कि आत्मा का स्वरूप परिवर्तित नही होता और जो परिवर्तन हमें दृष्टिगोचर होता है, वह पौद्गलिक सम्बन्ध के अनुपात से ही परिलक्षित होता है। अत पौद्गलिक जड़ता से पूर्णतया आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही वह परमात्मापन को प्राप्त कर सकती है। अतः मूलतः उनके समान ही हमारी आत्मा में भी अमित शक्ति वर्तमान है किन्तु बादलों में आये सूर्य के समान जड़ता के आवरण में ढकी होने के कारण वह अमित शक्ति

प्रज्वलित अवस्था मे नही प्रतीत होती। भगवान् स्वयं गौतम स्वामी के पूछने पर इस सत्य का विश्लेषण फरमाते है।

गौतम पूछते है—"हे भगवन्, क्या यह सत्य है कि ज्ञान, दर्शन तथा सुख रूप शक्तिया आपमे जहां अस्तित्व रूप में दिखाई दे रही है, वहां जड़ मे नास्तित्व रूप मे ही वे दिखाई देनी चाहिये ?"

महावीर भगवान्—"हा, गौतम, ज्ञानादि अस्तित्व रूप में और जड़ आदि नास्तित्व रूप मे परिणमन होते है।"

गौतम—भगवन् ! क्या ये सभी गुण जैसे आपमें है, मूलतः मेरे मे भी है और संसार के सभी चैतन्य प्राणियों मे भी हैं ?

महावीर—हाँ गौतम, जो मेरे में है, वे ही मूलत तुम्हारे में है, और संसार के सभी चैतन्य प्राणियों मे भी है। अन्तर इतना ही है कि परमात्मा शुद्ध स्वरूप होता है, वहाँ संसार के अन्य प्राणी कर्म पुद्गलों से सम्बन्धित होने के कारण अपनी महाशक्तियों को अनुभूत नही करते। जैसे खान मे गड़ा हुआ सोना और आग मे तपाया हुआ सोना—दोनों स्वरूप की दृष्टि से एक ही है, किन्तु स्वरूप विशुद्धता की न्यूनाधिकता के दृष्टिकोण से उनमे अवश्य ही अन्तर दिखाई देगा, ठीक वैसा ही अन्तर कर्मबद्ध आत्मा तथा परमात्मा मे समझा जाना चाहिये।

अत निष्कर्ष रूप मे मेरा कहना यही है कि पार्श्व जिनेश्वर के परम स्वरूप से प्रेरणा लेकर हम हमारे चेतन को उस प्रकाश-

मान आदर्श से अनुप्राणित करें। जब तक हम निजत्व को— अपने स्वरूप को नहीं पहिचानेंगे, हम अपने अधिकारों की समीक्षा नहीं कर सकते और न अपने कार्यों की अच्छाई बुराई का ही अनुमान लगा सकते हैं क्योंकि साधनों की कार्य-प्रणाली तो सदैव साध्य को दृष्टिमे रखकर ही संचालित की जा सकती है, वरन् जहां साध्य की ही स्पष्टता नहीं है, वहां साधनो के स्पष्टीकरण का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यही बात उपनिषद् मे भी बताई गई है—"सोऽहम्"–मै वही हूँ, जो शक्ति का परम विकास ईश्वरत्व के रूप मे प्रस्फुटित होता है। किन्तु आज भौतिक पदार्थों के जंजाल मे हम अपना वास्तविक स्वरूप भूले बैठे हैं और पुद्गलो के आधिपत्य मे शासित हो रहे हैं। इस दास-वृत्ति को त्याग कर चेतन के निज के शासकीय अधिकारों को समझने से ही प्रगति की दिशा स्पष्ट हो सकती है।

इस तथ्य को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है। एक बार एक बादशाह का मुँहलगा एक गुलाम था। उस गुलाम का बादशाह पर इतना प्रभाव था कि बादशाह हर हालत मे अपनी मर्जी को छोड़ कर भी गुलाम की मर्जी को पहले रखता था। एक बार गुलाम रूठ गया और बादशाह उसे मनाने लगे। हजार, दस हजार, लाख, जागीर—बादशाह ने सब बता दिये किन्तु टस से मस भी नहीं हुआ। इतने मे उसका वजीर आ गया। बादशाह ने उससे अपना मसला कह सुनाया। वजीर ने

कहा—आप परेशान न होइये, मैं उसे खुश कर दूंगा। वजीर ने पीछे से गुलाम के दो चार कोड़े लगाये और उसकी तबियत ठीक कर दी। तब दरबार मे गुलाम ने कह दिया—मैं खुश हूँ। इस तरह—आत्मा बादशाह है, किन्तु जड गुलाम को उसने इतना मुंह लगा लिया है कि वह अपनी सत्ता को भी भूल गया है और अब आत्मा जड़ को शासित तभी कर सकता है, जब ज्ञान रूपी वजीर की सहायता से गुलाम की तबियत ठीक कर दी जाय। जड तो वह दानव है, जिसके प्रति आत्मसमर्पण करने से वह आपको ही निगल जाता है। अतः भौतिक पदार्थों से ममत्व हटा कर ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश मे अपने आत्मा के स्वरूप को पहिचानना ही हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

हमारी आत्मा मे भी वही ईश्वरत्व समाया हुआ है, जिसकी हम प्रार्थना और पूजा करते है, ठीक उसी तरह, जैसे कि मीलो मे फैलने वाले वट वृक्ष की सारी शक्ति उसके छोटे से बीज मे समाई होती है। आवश्यकता है, उस बीज को बोने, भली प्रकार सिंचित करने और अपने अथक पराक्रम से उसे विशाल क्षेत्र मे प्रस्तारित करने की। अत इस पौद्गलिक ममत्व के आवरण को आत्मा पर से हटा कर अपनी अमित शक्ति को चीन्हने मे ही सच्चा कल्याण समाविष्ट है।

अलवर (राजस्थान)

: १४ :

नियमित एवं व्यवस्थित जीवन

"सुमति सुमति दातार, प्रभु त्रिभुवन तिलोजी.

विकास की मूल आधार शिला निश्चय ही सुमति—श्रेष्ठ बुद्धि पर टिकी हुई है। बुद्धि गति को प्रेरित करती है क्योंकि गति प्रयोजन के अभाव मे कभी भी संचालित नही होती तथा प्रयोजन का निर्धारण व निर्णय सदैव बुद्धि की भूमिका पर ही होता है। इसलिये अगर बुद्धि 'सु' हुई तो वह गति को विकास-पथ की ओर मोड देगी तथा बुद्धि की मलिनता व कुत्सितता जीवन को पतन के गड्ढे की ओर ढकेलती है। इस दृष्टिबिन्दु से सुमति जीवन की प्रगति की प्रमुख साधिका होती है। अत: भक्त कवि विनयचन्दजी सुमतिनाथ परमात्मा से प्रार्थना करते है कि हे प्रभो आप स्वय सुमतिवान् है और सुमति को अन्य प्राणियो के हृदय मे जागृत करने वाले हैं। जिसकी बुद्धि मे विकार नही होता वही तो दूसरों को प्रेरित कर सकता है।

इसके साथ ही जिसमे अनुप्राणित करने का दिव्य बल होता है और जो दूसरों के विकास-पथ का भी निर्देशन कर सकता है, उसीसे तो याचना भी की जाती है कि हे सुमति, तुम सुमति दातार हो, मुझे भी सुमति प्रदान करो !

किन्तु मैं प्रश्न करूँ कि क्या हमारे जीवन मे वह सुमति प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा प्रकट हुई है या नही ? इसके लिये आत्मशोधन करने की जरूरत पड़ेगी। जैसे एक सटोरिया फोन पर चाँदी सोने के भाव सुन रहा हो, उस समय उसकी कितनी एकाग्र उत्कण्ठा उस तरफ होती है, वैसा ही देखिये कि क्या सद्ज्ञान प्राप्ति की ओर आपका प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया है ? प्राप्ति का सुनिश्चित मार्ग तन्मयता है और तन्मयता ऐसी कि अर्जुन को लक्ष्यवेध करते समय भारी जनसमूह के बीच सिवा मोरपिच्छ आंख के और कुछ भी नही दिखाई दिया, तो जीवन का ध्येय अवश्य ही उपलब्ध किया जा सकता है।

मनुष्य की बात छोड़िये, एक बार कीड़े मकोडो तक के प्राकृतिक जीवन की ओर देखेगे तो विदित होगा कि वे भी अपनी रुचि (ध्येय) की ओर कितने सजग है तथा ध्येय से डिगाने वाले स्थानों की ओर अपनी बुद्धि को नहीं बिगाडते है। भँवरा एक कीडा ही तो है, फिर भी उसकी नैसर्गिक रुचि है कि वह पुष्पों की सुगन्धित सुवास की ओर आकृष्ट होता है। कहीं से भी उस तक वह सुवास पहुँचेगी कि वह उन फूलों तक चला जायगा या स्वयं उस सुवास की टोह मे घूमता

फिरेगा। लेकिन यह बात खास समझने की है कि वह भँवरा कभी भी मैले के ढेर या मोरी पर नही बैठेगा और इसे ही बुद्धि की श्रेष्ठता का रूपक समझा जाना चाहिये। चूंकि उसकी वह बुद्धि—समझ, पक्के तौर पर पड़ी हुई है कि वह अपनी रुचि के पदार्थ के सिवाय दूसरी ओर झांके भी नही, वह अपने ध्येय—रुचि की ओर ही बढ़ता है—विपथगामी नही होता। इस स्थिति मे सोचे तो मनुष्य तो अन्य प्राणियों व जन्तुओ मे सर्वाधिक विवेकशील प्राणी माना जाता है, अत. आवश्यक है कि वह अपनी बुद्धि की गति को इस तरह ढाले कि पतन के दलदल मे न फंस कर निरन्तर अपने विकास—ध्येय के प्रति उत्थान करता रहे।

अब यह देखना जरूरी है कि ध्येय की तरफ अग्रसर कराने वाली 'सुमति' की प्राप्ति कैसे सुलभ हो सकेगी ?

जैसे कि ऊपर बताया गया है कि भँवरा सदैव फूलों की सुवास की ओर ही मुडता है, कभी विष्टे की तरफ देखता भी नही। वैसी ही तन्मयता सुमति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। परन्तु ऐसी तन्मयता नियमित एवं व्यवस्थित जीवन-क्रम से ही प्राप्त हो सकती है। अव्यवस्थित जीवन द्वारा ज्ञान की अभिरुचि एवं प्राप्ति अवश्य ही दुष्कर होगी। जीवन साधक के लिये भगवान् महावीर का यह वाक्य निस्सन्देह पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है कि—

"काले काल समायरे . .."

यह नियमितता का मूल मंत्र है कि प्रत्येक कार्य को यथा-समय सम्पन्न कर लिया जाय। अगर इस कथन को ही पूर्णतया हृदयंगम कर लिया जाय तो दिशासूचक यंत्र की सूई की तरह जीवन के कठिन क्षणों में भी अपने लक्ष्य के प्रति सफल संकेत करता रहेगा।

साधु जीवन की ही नियमित व्यवस्था के विषय में हम सोचें तो जैसा कि निर्देश है कि प्रथम प्रहर में वह स्वाध्याय करे, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय में आहारादि तथा चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय में लग जाये एवं इसी तरह रात्रि में स्वाध्याय, ध्यान, निद्रा तथा पुनः स्वाध्याय करे। इस कार्यक्रम का उद्देश्य है कि साधक व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का अधिकतम लाभ लेने का प्रयास करे। इस तरह के निर्धारण से समझा जाना चाहिये कि जिस स्थान वा प्रदेश में जिस प्रकार का काल वा व्यवस्था हो उसके अनुकूल प्रवृत्ति की जाय, क्योंकि आज जब कि १०-११ बजे आहार का समय होता है तो उक्त कथन के अनुसार १-२ बजे आहारार्थ जाना उपयुक्त नहीं होता। आज साधु लोग भिक्षा के लिये तो समयानुकूल प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं किन्तु स्वाध्याय व ध्यान का कार्य-क्रम व्यवस्थित कम पाया जाता है। यदि गंभीर दृष्टि से विचारा जाय तो साधु का आदर्श इन प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से आधारित है। शास्त्रों में भी कहा है कि एक वर्ष का साधु-जीवन भी सर्वार्थसिद्ध (उच्चतम स्वर्ग) के सुखों से भी अधिक

आनन्ददायक बन जाता है। इसका अर्थ है कि साधु के जीवन क्रम मे कितने भव्य आत्मानन्द का अद्भुत विकास व व्यापन हो जाना चाहिये ?

नियमित व व्यवस्थित जीवन का यह अवश्यभावी प्रभाव होता है कि विकास का प्रवाह सुयोग्य विचारोके साथ स्वयमेव ही फूट पडता है। किन्तु इस स्थिति के अभाव ने आज चारो ओर विकृति की काली छाया फैला रखी है। आज का साधु भी अन्य प्राणियों को शान्ति व परमानन्द का रसास्वादन कराने के बजाय स्वयं राग, द्वेष एवं साम्प्रदायिक व्यामोहों के दाह मे जल रहा है। दूसरी ओर गृहस्थ जीवन भी अनियमित व अव्यवस्थित है और एक तरह से ऐसे गृहस्थ जीवन का भी परिणाम है कि वह विश्रृंखलता साधु जीवन मे भी मिटती नही। इसलिये मैं तो कहूँगा कि गृहस्थों का जीवन भी नियमित होना अत्यावश्यक है, क्योंकि साधुओं का यथेष्ट विकास भी गृहस्थो के सहयोग से ही सफल हो सकता है।

यह सर्वथा सत्य है कि समय का सर्वोत्तम उपयोग करने-वाला व्यक्ति ही अपनी सच्ची प्रगति साध सकता है। यदि कोई शेखचिल्ली की तरह कोरी भविष्य की मधुर कल्पनाओं मे ही रम जाय और वर्तमान के प्राप्त क्षणो को व्यर्थ ही मे खोता रहे तो उसकी भविष्य मे विकास करने की शक्ति क्षीण हो जायगी। भविष्य का निर्माण वर्तमान की कठोर आधारशिला पर ही

होता है और इसी दृष्टि से शायद समय के महान् महत्त्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि—

"समयं, गोयम ! मा पमायए......

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद-आलस्य मत कर और 'समय' क्या, आज के सैकिंड से भी अल्पतम काल-विभाग। अतः यह कभी भी विस्मृत नही किया जाना चाहिये कि नष्ट किया हुआ वैभव पूर्ण परिश्रम द्वारा फिर से प्राप्त किया जा सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य उचित पथ्य व व्यायाम व सयमित जीवन द्वारा पुन मिलाया जा सकता है, यहा तक कि भूला हुआ ज्ञान भी निरन्तर अध्ययन द्वारा फिर से उपलब्ध किया जा सकता है, लेकिन एक वार नष्ट किया हुआ समय वापिस कभी भी प्राप्त नही होता। वह तो सदैव के लिये विस्मृति के महागर्भ में विलीन हो जाता है, उसके पीछे सिर्फ अतीत की छाया मात्र रह जाती है।

अतः समय का समुचित मूल्यांकन ही नियमितता एवं व्यवस्थितता की कुंजी है, जबकि हम देखते है कि आज के साधारण जीवन मे समय को यथायोग्य महत्त्व नही दिया जाता। जीवन का कोई नियमित व्यवस्था-क्रम ही नही। पैसे की हाय हाय ऐसी देखा जाती है कि सुबह से लेकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर। उन्हें अपने जीवन मे शान्ति का अनुभव ही नहीं होता और उसका स्पष्ट कारण है कि समय का सदुविभाजन व

सदुपयोग किये बिना मानव का मन कभी भी सुखी नही बन सकता।

गृहस्थ भी अपने समय के सदुपयोग के लिये उसका इस तरह दैनिक विभाजन कर सकते है कि दिन व रात के २४ घंटो मे से ६ घंटे विश्रान्ति, ६ घंटे शारीरिक व्यवस्था-भोजन शौचादि मे तथा ६ घंटे जीवन-निर्वाह के कार्यों मे लगावे। व्यापारी लोग समझते है कि कम समय मे पूरी आमदनी नहीं की जा सकती किन्तु यह सही समझिये कि न्यायपूर्वक अर्जन के लिये यह पर्याप्त है कि नियमित समय मे तन्मयता पूर्वक कार्य किया जाय। इस तरह सारे कामो के बाद बचे हुए ६ घंटो को या उनमे से ५-४-२ और यहां तक कि १ घंटा भी शुद्ध भावना के साथ आत्म-चिन्तन मे लगाया जाय तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि आपके जीवन मे नवीन ज्योति की चमक फैल जायगी। कम समय भी हुआ किन्तु अगर वह भी नियमित रहा तो कार्यसिद्धि की असंभावना कभी भी नहीं रहती। चार्ल्स फ्रास्ट नामक एक चमार कहते है कि एक घंटा ही पर प्रतिदिन नियमित अध्ययन करने से गणित का महान् आचार्य बन गया। इसी तरह कुछ समय भी अगर आप आत्म-विचारणा मे नियमित रूप से नित्य प्रति देगे तो उसका यह फल होगा कि आप अपनी दैनिक प्रवृत्तियों की यथार्थ आलोचना करना सीखेगे और उसके जरिये निश्चय ही आपकी मानसिक स्थिति का सुधार होगा और उसका मतलब है कि

आपकी मति 'सुमति' बनती जायगी। तब उस सुमति के आधार पर आपके कदम विकास-मार्ग की ओर आगे बढ़ने लगेंगे। इस आत्म-विचारण के लिये मैं खास तौर से जोर देना चाहता हूँ कि आप सही तरीको से जीवन-विकास के पथ का अन्वेषण करे और इसके लिये प्रगति की प्रेरणा देने वाले साहित्य का अध्ययन व मनन अनिवार्य होगो। इससे मेरा यह प्रयोजन नही कि माला फिरोना या अन्य धार्मिक क्रियाएँ करना निष्प्रयोजन है किन्तु अभिवाछित ज्ञान के अभाव मे इनका वह असर नही हो पाता, जो दरअसल होना चाहिये। सवाल तो यह है कि इस आध्यात्मिक दिशा मे उपयुक्त समय हमारे जीवन को उत्थान की ओर किस प्रकार ले जाता है?

मनुष्य अपने जीवन के क्रमबद्ध विकास की ओर तभी मुड सकता है, जबकि उसे अपने जीवन, अपने विचारो व अपनी प्रवृत्तियों को स्वयमेव भलीभांति पहचानने व परखने का मौका मिले और यह तभी हो सकता है कि वह अपने दैनिक कार्यक्रम मे कुछ भी निश्चित समय आत्म-चिन्तन के लिये अलग निकाल दे। अपनेआपको भी टटोले विना अपना लेखा-जोखा समझ में नही आता है। वही दुकानदार अपने व्यापार को बढाने के लिये नये २ तरीके सोच सकता है, जो अपने कारबार का बराबर हिसाब रखता है क्योकि हिसाब देख २ कर उसे लगता रहता है कि कहाँ कमी है और किस तरह पूरा किया जा सकता है। उसी तरह आत्मचिन्तन व आत्मालोचना से अपने जीवन

को सुव्यवस्थित बनाने की ओर सुदृढ़ मनोवृत्ति का निर्माण होता है और यही मनोवृत्ति बुद्धि को सुष्ठु बनाते हुए जीवन के सभी पक्षों को समुन्नत बनाती है।

जीवन चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक—उसमे व्यवस्था-बद्ध पद्धति का अतीव ही महत्त्व होता है। गृहस्थ जीवन की सुन्दर व्यवस्था के सम्बन्ध मे एक उदाहरण मुझे याद आता है जिससे पता लगेगा कि इस तरह कोई भी अपने लिये कैसे तेजवान् भविष्य का निर्माण कर लेता है? दूसरे शब्दो में व्यवस्था का नाम विकास कहा जाना चाहिये।

एक बार बाजार के बीच से उस नगर के राजा की सवारी निकल रही थी। चारो तरफ भीड़ खड़ी थी व सैकडो नरनारी राजा का जय-घोष कर रहे थे। राजा अपने यश-वैभव को निरख कर फूला नही समा रहा था। इस बीच उसकी दृष्टि अचानक ही एक ऐसे व्यक्ति पर जा पडी, जिसके कोई आभूषण धारण किये हुए नही थे तथा वस्त्र भी अति साधारण थे लेकिन उसके चेहरे पर ऐसा तेज चमक रहा था, जो किसी के भी हृदय को बरबस ही प्रभावित कर सकता था। उसका शरीर स्वस्थ व सुगठित था तथा मुख शान्तचित्तता धारण किये हुए दिखाई देता था, क्योकि वह राजा के ठाटबाट से जरा भी आकर्षित होता हुआ नही लगा। आश्चर्यान्वित हो राजा ने अपने आमात्य को उससे बात करने की इच्छा प्रकट की और तत्क्षण ही वह वहां उपस्थित कर दिया गया। उस समय भी

उसकी आकृति पर जो गंभीर मस्ती सी छाई हुई थी, उसे देख कर राजा स्तब्ध सा रह गया। राजा ने धीरे से पूछा—तुम कौन हो ?

उसने शान्ति से नि संकोच जवाब दिया—महाराज, मैं एक मजदूर हूँ। अब तो राजा का आश्चर्य और भी बढ़ गया। उसने जानना चाहा कि उसकी आमदनी कितनी है ? झूठे वैभव की मृगतृष्णा के पीछे भागने वाले को भला इसका क्या अनुभव कि सच्चे व निराबाध सुख का निवास कहां होता है ? ऐसे कूपमंडूक की समझ में आत्म-सुख के लहलहाते समुद्र की गहराइयां भी तुच्छ ही लगती है। इसी कारण राजा ने उसके दिव्य सुख को ढूँढ़ने के लिये और कही न मुडकर उसकी आजीविका के बारे मे प्रश्न किया।

मजदूरने अपनी व्यवस्थाका स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि वह रोज के ६ टके* (३ आना) पैदा करता है और उन्हे उपयुक्त कार्यों के लिये विभाजित कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करता है। यह सुनकर राजा ने उसके वैसे विभाजन के बारे मे जानने

---

* पुराने समय मे पदार्थों के भाव बहुत ही सस्ते थे, इस कारण यह रकम भी काफी होती थी अलाउद्दीन के जमाने मे ही तीन पैसे सेर घी आदि के भाव बताये जाते हैं। अभी ? मेवाड़ में भी एक आने के २० पैसे (ढीगले) होते थे, जिनसे काफी सामान खरीदा जा सकता था।

की इच्छा प्रकट की तो मजदूर ने कहा—राजन्, मैं अपने जीवन को पूर्णतया व्यवस्थित रखता हूँ। कुल आय का एक हिस्सा (छठा) कर्जदार को देता हूँ, एक हिस्सा अपने मित्र को, एक हिस्सा धूलियों को, एक हिस्सा खाने पीने मे, एक हिस्सा दान मे देता हूँ तथा अन्तिम हिस्सा खजाने (जमा) में रख लेता हूँ।

राजा को तो उसका इस तरह कहना पहेली की तरह लगा और उसने उससे स्पष्ट कहनेको कहा। मजदूर ने समझाया कि उस पर माता पिता का कर्ज है, पर कर्ज तो उससे क्या चुके, एक हिस्से के द्वारा उनकी सेवा सुश्रूषा का वह विशेष प्रबन्ध करता है। एक हिस्सा उस मित्र के लिये है जो जीवन भर उसके सुख-दुखो का साभी है और वह है उसकी अपनी धर्म-पत्नी। आज तो लोगों को मित्रता की सच्ची पहिचान भी नहीं रह गई है। राग रंग मे फंसा कर जो धीरे २ पतन की राह पर ढकेल देते है, उन्हे मित्रों की सूची मे पहले लिया जाता है। किन्तु भर्तृहरिजी ने सच्चे मित्र के लक्षणों का परिचय इस तरह दिया है—

"पापान्निवारयति योजयते हिताय-
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त ॥"

और इन लक्षणों की पूरी २ पूर्ति विवेकशील धर्मप्रिय भार-

तीय स्त्री मे मिलती है, इसलिये आज के युग मे स्त्रीत्व की समाज मे नवीन प्रतिष्ठा की आवश्यकता है। स्त्री गृह-व्यवस्थापिका या काम-पिपासा को शान्त करने की साधन होने के कारण मित्र नही कही गई है, बल्कि इसलिये कि वह पति को सदैव सद्‌पथ पर चलनेकी प्रेरणा देती रहती है और न मानने पर सत्याग्रह करके भी दुष्मार्ग से हटाने का प्रयास करती है। पति के गुप्त रहस्य को गोपन करके रखती है, गुणों का विस्तार करती है। आपत्ति के समय भी पति का सहवास नही त्यागती और अवसर आने पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी पति की सेवा करती है। इन्ही महान् गुणों के कारण वह मेरी मित्र है। कहा है—पति नयतीति पतिः। अपने बच्चों को संस्कारित करना, अक्षरी ज्ञान एवं व्यावहारिक शिक्षा देकर पूर्ण योग्य बनाना भी उसका कर्तव्य है।

तीसरे हिस्से के लिये मजदूर ने कहा कि धूलिये—धूल मे खेलने वाले उसके बच्चे हैं। वह उन्हें पूर्ण योग्य बनाने के लिये उनका भी खास खयाल रखता है। चौथा खाने पीने, पाँचवा दान देने तथा छठा समय पर काम मे लेने के लिये संग्रहार्थ नियोजित करता है। इसके सिवाय उसने कहा कि मैं स्वयं श्रम करता हूँ, मेरा जीवन परतन्त्र नही है, अत मैं अपनी सारी शक्तियाँ अपने जीवन को बनाने में लगाता हूँ। यही मेरी इस स्थिति का रहस्य है।

तात्पर्य्य यह है कि जीवन को नियमित व व्यवस्थित

रखने वाला व्यक्ति कभी भी दुःखी नहीं होता, बल्कि हर क्षेत्र मे वह विकास की तरफ आगे २ कदम बढ़ाता रहता है। आज यही नियमितता मनुष्यों के पारिवारिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रविष्ट हो जावे तो नई ही परिस्थितियों का चारों ओर निर्माण किया जा सकता है। लेकिन वर्तमान स्थिति कुछ विचित्र सी ही है। जीवन का क्रम अस्त-व्यस्त बन रहा है। कर्ज करके भी पुरानी रुढियो की लकीर पीटी जाती है। नीति, कर्त्तव्य व परिश्रम मे लोगों का मन नही लगता। जीवन मे हिंसा, कपट, विश्वासघात आदि असामाजिक दोषों का समावेश हो रहा है। धार्मिक कार्यो मे हाथ धूजते है, दान देते हुए दिल धडकने लगता है। इन सारी प्रवृत्तियों से आज का सामाजिक जीवन भी छिन्न-भिन्न हो रहा है। 'कुमति' का जैसे साम्राज्य बढ़ता चला जा रहा है।

और जहाँ कुमति है, वहा अव्यवस्था है, स्वार्थान्धता है और एक शब्द मे पतन का ढालू मार्ग है, जहा से एक बार फिसलने पर फिर अपने आपको नियंत्रित कर सकना भी कठिन हो जाता है। तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"जह सुमति, तह सम्पत्ति नाना।
जह कुमति, तह विपति निधाना॥"

इसलिये अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगा कि आप समय को व्यर्थ मे न गुमावे तथा उसे अपने जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने मे लगावे ताकि उस व्यवस्था के सद्भाव मे आप

अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन कर सके और सद्ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने सरल विकास का मार्ग ढूंढ़ सके। प्राप्त की हुई सुख सुविधाओं को शुभ कार्यों मे प्रयुक्त करके अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को सार्थक बनावें। जो जीवन मे नियमितता व व्यवस्था का महत्त्व समझ लेता है, वही भगवान् सुमतिनाथ की 'सुमति' का फल याचक बन कर अपने जीवन विकास की ओर गति करने लग जाता है।

एस० एस० जैन सभा भवन,
सब्जीमंडी, दिल्ली] [४-३-५१

: १५ :

"मैं कौन हूं ?"—एक प्रश्न

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे. ....

जब तक ड्राइवर को यह ज्ञान नहीं होता कि किस मशीन के संचालन से मोटर चलेगी और किसके द्वारा वह ठहरेगी तथा किसके द्वारा उसकी गति का नियंत्रण होगा, वह कुशलतापूर्वक मोटर चला नहीं सकता और यदि उसने चलाई भी तो दुर्घटना में निजको, दूसरों को व मोटर को भी साथ ले डूबेगा। ऐसा ही हाल मनुष्यों का भी हो सकता है, जो 'अपने आप' को पहिचानते नहीं। आत्मा इस जीवन के द्वारा प्रगति की ओर उन्मुख होता है, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञ होने की अवस्था मे दुर्घटना का ही अंदेशा रहता है, जिसमे अमूल्य जीवन के विनाश के साथ आत्मा भी पतन के मार्ग चला जाता है और पतित आत्मा अपने कुप्रभाव से अन्य जीवों को भी अपने साथ ले डूबता है। इसीलिये इस

प्रार्थना में कवि विनयचन्दजी श्रेयांस जिनेन्द्र को स्मरण करने पर यों जोर दे रहे है कि उनके आदर्श से हम भी अपनी विशाल आत्म-शक्ति को पहिचानें।

आत्मस्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का एक प्रधान कारण यह भी है कि हमारे देश का बहुत बड़ा हिस्सा 'अवतारवाद' में विश्वास करता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत!' के सिद्धान्तानुसार संसार को संकटों से उबारने के लिये स्वयं ईश्वर ही भिन्न २ समय पर भिन्न २ रूप में अवतरित होते हैं। कभी राक्षसों के अत्याचारों को समाप्त करने के लिये वे 'नरसिंह' हुए तो कभी 'राम' और 'कृष्ण' रूप लेकर उन्होंने संसार की गति को सत्पथ की ओर मोड़ा। इसके सिवाय वे लोग यह भी विश्वास रखते है कि वही ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी है तथा उसकी मर्जी के बिना धरती का एक भी कण और पेड़ का एक भी पत्ता नही हिलता। मनोवैज्ञानिक रूप से सोचें तो इस मान्यता के द्वारा साधारण जनता में आत्मविस्मृति व अकर्मण्यता का भाव फैलता गया। निज की शक्ति के प्रति अविश्वास समाता गया और यह सोचा जाने लगा कि इस विशाल विश्व में उसका अस्तित्व किसी महत्त्व का धारक नहीं। इस प्रकार की हीनमन्यता (Inferiority Complex) की भावना ने जनता में फैलने वाली सजगता व चेतनता का विनाश किया और उसे यह मानने पर मजबूर किया कि परमात्मा ही सब कुछ है, जो उनकी आत्मशक्तियों से परे एक

अलग, विशिष्टतम तथा अनोखी आत्मशक्ति है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे इस अन्धवादिता से दूर होने की ओर यह समझने की आवश्यकता है कि हमारा अपना अस्तित्व हमारे लिये क्या महत्त्व रखता है और उसे किस विकास की तरफ ले जाने से प्रगमनशीलता के क्षेत्र मे पूर्णतया प्रस्फुटित हो सकता है?

जैनदर्शन सदैव से प्रयत्नशील रहा है। उसके किसी सिद्धान्त मे अन्धवादिता या प्रतिक्रियावादिता की बू नही मिलेगी। वह न तो अवतारवाद मे ही विश्वास करता है और न ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व मे ही। वह तो आत्मा की निज की अमित शक्ति मे विश्वास करता है, जिसका चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। "Man is the root of progress" कहने वाले साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स के बहुत पहिले सदियों से जैन दर्शन स्पष्ट कहता आया है कि जीवन का विकास किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहीं, अपितु निज में रही हुई शक्ति को पहिचान लेने से ही होता है। मानव स्वय अपने जीवन का निर्माता है और उसके उत्थान पतन का उत्तर-दायित्व केवल उसी पर है। जितने भी महापुरुष होते हैं वे कठिन विपदाओ के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चल कर ही महानता को प्राप्त करते है और इसीलिये उनका आदर्श समाज के लिये अनुकरणीय व प्रेरणाप्रदायक बन जाता है। अवतारवाद मे इस प्रेरणा का अभाव ही मिलेगा, क्योंकि अवतार का जीवन तो

एक अभिनेता के समान होता है, जिसके जीवन में वास्तविकता कुछ नही, वल्कि दूसरों के दिखाने के लिये की गई क्रियाओं का पुंज होता है, और अस्वाभाविक क्रियाओं मे कभी प्रेरणा नहीं रहती। अतः यह समझना अनिवार्य है कि प्रत्येक प्राणी ही अपनी समस्याओं को उलझाता और सुलझाता है तथा उनका उचित निराकरण करते हुए आगे बढ जाता है, जो आगे बढना उसे मुक्ति की सीमा तक ले जा सकता है। 'नर से नारायण' की रीति जैन दर्शन मानता है और उसीके द्वारा समाजमे प्रगति के प्रति उत्साह, कर्मण्यता के भाव तथा स्वशक्ति की परिचय-प्ररणा व्याप्त हो सकती है।

इसलिये जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं, मोटर ड्राइवर की तरह हमको यह जानना जरूरी है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है और उसका सही सचालन करने के लिये किन साधनों का प्रयोग अति आवश्यक है?

भौतिकवादियों की मान्यता के अनुसार आत्मा कोई ऐसा तत्त्व नहीं, जो इस जीवन के साथ ही अन्य स्थान से आकर पैदा होता है और जीवन की समाप्ति साथ ही अन्य स्थान को चला जाता है, किन्तु केवल भौतिक द्रव्यों के सम्मिश्रण से समुत्पन्न होकर बिखर जाता है, ऐसा उनका कथन है। परन्तु यह कथन उचित नहीं क्योंकि इस देह मे निवास करने वाली सूक्ष्म चेतना की झलक ही आत्म तत्त्व के अस्तित्व का प्रमाण है। यह आत्म तत्त्व ही नासिका, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों का

सचालक तथा शरीर के प्रत्येक प्रदेश मे व्याप्त होता है। वह इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि चर्म चक्षु की दृष्टि उसे नही देख सकती। इसके लिये स्वयं भगवान महावीर अपने समक्ष बैठे हुए गौतम स्वामी को फरमाते हैः—

"न हु जिणे, अज्ज दिसई"

अर्थात्- तुम्हे जिन भगवान् नही दिखाई देते। इसका रहस्य यह है कि तुम जिस शरीर को देख रहे हो. वह जिन नही। वह तो पुद्गलों का पुंज मात्र है, जो एक दिन विनाश की गहरी छाया मे लुप्त हो जायगा। वास्तविक जो तत्त्व है, वह है अदृश्य आत्मा की अतुल शक्ति, जिसे अनुभव से ही महसूस किया जा सकता है। जब "मैं कौन हूँ" के ध्रौव्य स्वरूप की अनुभूति को समझने का प्रयास किया जाता है, तब ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ मे आ सकता है। तब वह 'जिन भगवान्' को देख ही नही सकता, बल्कि उनके अनुरूप अपना भी जीवन निर्माण कर सकता है।

"मैं कौन हूँ" का रहस्य प्रतिक्षण उद्भूत होता रहता है। 'मेरा हाथ, मेरा कान, मेरा शरीर' ऐसी अन्तर्ध्वनि का जो सचालक है, वह इन्द्रियातिरिक्त है और वही चैतन्य शक्ति है। इसके साथ ही 'मेरा घर, मेरी पुस्तक, जिस प्रकार सम्बन्धित होने पर भी हमसे अलग है, उसी तरह शरीर की पौद्गलिक माया भी आत्म तत्त्व से पृथक् है। इसका प्रमाण यह है कि बडे २ वैज्ञानिकों को, जो नास्तिक होते है. अपने अनुसन्धान

आदि मे आत्मानुभव नही होता तो यह आत्मानुभव जड जड़ पदार्थों के संसर्ग से भले हो किन्तु उनके अस्तित्व से एक अनुभूति होती है और उसीका नाम आत्मिक अनुभूति है। आचारांग सूत्र मे कहा है.—

"तक्का तत्थ न विज्जइ"—

अर्थात् तर्क से आत्मिक शक्ति की अनुभूति नही हो सकती। उपनिषद् मे तर्क करने वाले के लिये 'नेति नेति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः आत्मस्वरूप को समझने के लिये सच्ची जिज्ञासावृत्ति ही आवश्यक है।

अनादि काल से आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, अत· दोनों एक समान ही प्रतिभासित होते है किन्तु वस्तुत दोनों भिन्न २ हैं। क्योंकि शरीर जड, ज्ञान रहित तथा स्वरूप को पहिचानने में अयोग्य होता है, चैतन्य आत्मा के द्वारा ही आत्मा के तथा जड़ के स्वरूप को पहिचाना जा सकता है। घडी, मोटर, रेल चलते जरूर हैं किन्तु वे चैतन्य की प्रेरणा से ही चलते हैं। केवल चलने से उनमे चैतन्य नही माना जाता, उसी प्रकार शरीर स्वयं चालित नही, बल्कि चैतन्य शक्ति द्वारा चलाया जाता है। किन्तु अज्ञान की प्रबलता के कारण आत्मा स्वयं अपने अस्तित्व के विषय मे शंकित होता है। इसके लिये इन प्रश्नों पर रोज़ चिन्तना की जाय कि 'मैं कौन हूँ ?' इस 'मैं' की अनुभूति का उद्गम कहां से होता है ? मेरा क्या स्वरूप है ? मेरी गति और प्रगति की दिशा क्या है ?

यह सत्य है कि इन्द्रियां जिस विषय को ग्रहण करती है, स्वयं उस विषय से अनभिज्ञ रहती है। उनका जो ज्ञान होता है, वह एक विशिष्ट शक्ति के साहचर्य्य से होता है। क्योंकि जो इन्द्रियां जिस विषय को ग्रहण करती है, उनके नष्ट होने पर भी उनके माध्यम से प्राप्त हुआ ज्ञान नष्ट नही होता, उसका अनुभव प्रतिक्षण होता रहता है। अतः इन्द्रियां विनाशी है और उनका नियन्ता उनसे पृथक् और नित्य है। वही आत्मा है। यदि भौतिक शरीर और इन्द्रियां ही सब कुछ है और उनसे पृथक् कोई शक्ति नही है तो भिन्न २ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुए विषय को जिह्वा प्रकट कैसे कर देती है? अतः एक दूसरी इन्द्रिय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि आत्मा ही इन्द्रियों के वातायनों से विषय ग्रहण करता और उनका प्रयोग करता है। इन्हें आत्मा का वोध नही होता, क्योंकि ये स्वयं आत्मा द्वारा संचालित होती है—ठीक उसी तरह, जिस तरह आप घडी, मोटर आदि को संचालित करते है किन्तु घडी, मोटर आपके विषय मे कुछ नही कह सकतीं। इन्ही इन्द्रियों को यदि आत्मा का सहयोग प्राप्त न हो तो ये जड रूप बन जांय। अत. अपने २ गुणों के कारण दोनों का पृथक् २ अस्तित्व स्वत. सिद्ध होता है।

यदि यह कल्पना की जावे कि शरीरोत्पत्ति के साथ ही शरीर में एक शक्ति पैदा होती है, जो शरीर विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाती है जैसे आग मे रखने पर वह लोहे के गोले में

सर्वत्र व्याप्त हो जाती है और पुनः उसे बाहर निकाल लेने पर समाप्त हो जाती है। किन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार ही प्रतीत होती है। क्योंकि वस्तु का कभी भी विनाश नहीं होता, केवल रुपान्तर होता है। अत आत्मा भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल मे विद्यमान रहता है। हम सब अनुभव करते हैं कि बाल, युवा व वृद्ध अवस्थाओं मे शरीर की भिन्न २ परिणति होती रहती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी कहा जाता है कि बारह वर्ष की अवस्था मे शरीर के सभी पुद्गल परिवर्तित हो जाते हैं। फिर भी प्रत्येक अवस्था मे किये हुए कार्यों पर सोचने विचारने की शक्ति व अनुभव विनष्ट नहीं होता। अत शरीर की पर्यायो मे रूपान्तर होते हैं। वह सुदृढ होता है, स्वस्थ होता है, रुग्णावस्था को प्राप्त होता है और जीर्ण व क्षीण आदि होता है। इसी तरह मन की गति और विचारो के प्रवाह में भी परिवर्तन होते जाते हैं किन्तु इन सब परिवर्तनो के बीच भी 'मैं' की अनुभूति वैसी की वैसी बनी रहती है। आज मैं सुखमय जीवन यापन करता हूँ, कल ही दु ख का सामना कर सकता हूँ'—इसमें 'मैं' की पर्याय बदलती हुई लक्षित होती है किन्तु सुख दु ख के नाटक का दृष्टा अर्थात् परिवर्तनशील जगत में चित्रित होने वाले कार्यों का साक्षी 'मैं' हमेशा एक ही रूप में रहता है। सुख-दु खादि मनोविकारो मे होने वाले परिवर्तनों की पर्यायें आत्मा के अस्तित्व मे बाधा नहीं पहुँचा सकती। अत इस महान् शक्तिशाली आत्म-तत्त्व को पहिचानना और

उस व्यापक शक्ति को पूर्ण प्रकाशित करना ही हमारे जीवन का प्रतीत लक्ष्य होना चाहिये। इसी शक्ति के पूर्णत्व मे चरम विकास या मुक्ति का आवास रहा हुआ है। भगवान महावीर की अमर वाणी यही सन्देश सुनाती है:—

एवं भव संसारे संसरई, सहासुहेहि कम्मेहि।
जीवो पमाय बहुलो, समयं गोयम्! मा पमायसे ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १० गा० १५)

अर्थात्—प्रमाद बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों व आत्म-स्वरूप को न पहिचानने के कारण इस प्रकार अनन्त भव-चक्र मे इधर से उधर पर्यटन करते है अत हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद न कर और आत्म-स्वरूप को समझते हुए उस शक्ति को प्रकाशित करने मे पराक्रम फोड़!! उपनिषद् से भी ऐसे ही भाव झलकते है'—

"आत्मैव वरि मन्तव्यो निरिध्यासितव्यो,
नान्य तोस्ति विजानत"

अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध मे मनन और चिन्तन करना ही हमारी जिज्ञासा का चरम बिन्दु है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। आत्मा को पहिचानना ही परमात्मपन को उपलब्ध करना है, जहा से संसार के बदलते हुए भावों का अवलोकन किया जा सके। आत्म-स्वरूप को न पहिचानने के कारण ही आज संसार में इतना अज्ञानान्धकार व दु ख छाया हुआ है।

यह निश्चय है कि जब तक मनुष्य को 'मैं हूँ' की आध्यात्मिक एकता प्राप्त नहीं होगी, तब तक वह इच्छा, वासना और परस्पर विरोधी मनोविकारों का शिकार होता ही जायगा और इनका गुलाम बना ही रहेगा। मनुष्य बराबर यह सोचता रहता है कि वह स्वयं को तो जानता है किन्तु अन्य पदार्थों के विषय में ही उसे सन्देह है। परन्तु बाह्य शरीर का ज्ञान आत्मा का ज्ञान नहीं है और इसीलिये आप अनबूझ रह कर वह औरों को भला किस प्रकार से बूझ सकता है?

हमारे अन्तस्तल से ध्वनित होता है कि शरीर चेतना शक्ति नहीं है, वह तो केवल आत्म-प्रकाश को प्रकट करने का माध्यम मात्र है। शरीर के कोई अंग काट लेने पर भी उस अनुपात से 'मैं हूँ' की अनुभूति कम नहीं होती, फिर शरीर और चेतना शक्ति का सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? शरीर तो अणु परमाणु का पुंज मात्र है, जिसे चेतना शक्ति घड़ी मोटर की तरह संचालित करती है। शरीर को ही चेतन मानने पर यह समझ में नहीं आता कि मृत्यु के पश्चात् शरीर यों का यों रहता है किन्तु चेतना शक्ति फिर कैसे और कहां लुप्त हो जाती है? अतः यह मानना पड़ेगा कि चेतना का केन्द्र स्थान आत्मा है और शरीर और आत्मा का स्पष्ट पृथक्त्व है।

जीवन में नित्य परिवर्तन होते रहते हैं और विचारों एवं भावनाओं में नई क्रान्तियाँ हो जाती हैं किन्तु यदि हम आत्म-तत्व को गम्भीरता पूर्वक समझने का प्रयास करेंगे तो ज्ञात

होगा कि मूलतः जीवन मे एक ऐसा केन्द्र स्थल है, जो शाश्वत, स्थिर और शान्त है और जिसे विशाल प्रभंजन, महान् भूकम्प, प्रचड ज्वालामुखी तथा भौतिक युग के संहारक शस्त्र और बम भी स्पर्श तक नही कर सकते। अशान्ति का तांडव नर्तन भी आत्म-शान्ति को बाधित नही कर सकता। चंडकौशिक सर्प के विषपूर्ण नेत्र और तीक्ष्ण दन्त भगवान् महावीर की शान्त व धीर मुद्रा को तनिक भी विचलित नही कर सके। अर्जुनमाली का भयंकर वज्र ध्यानस्थ सेठ सुदर्शन को आघात न पहुँचा सका। मूला के द्वारा हाथ पैर में जटिल बेड़ियां डालने के बाद भी चन्दनबाला की आत्मिक प्रगति न रुकी। इस युग में तो महात्मा गांधी के नेतृत्व मे सत्याग्रहियों ने हंसते हंसते गोलियों और लाठियों के क्रूर घार सहन किये। यह अविचल शक्ति ही दार्शनिकों का ब्रह्म, ईश्वर और आत्मा है। यह भव्य तेज भौतिक पदार्थों का नही, अपितु पूर्ण ईश्वरत्व का बीज रूप आतमा का ही प्रभाव है।

आत्म-शक्ति का अन्तर्दर्शन ही व्यक्ति विकास की कुंजी है। आत्मिक शक्ति को प्रकाशित करने का अपूर्व साधन है—आध्यातमिक ज्ञान। आज के जडवादी युग ने इस ज्ञान को लुप्त करने के प्रयास किये है किन्तु भारतीय संस्कृति पटल से इसे मिटाया नही जा सकता और जिस दिन यह पुनीत स्थिति पूर्ण रूप से हमारे हृदयों से लुप्त हो जायगी, उस दिन एक सांस्कृतिक प्रलय आयगा, जो मानवता को क्रूर बर्बरता मे

परिणत कर देगा। अतः सच्चे विकास के लिये हमे आत्म-स्वरूप को यथार्थ अर्थ मे समझ लेने के बाद आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा उसे प्रगति की पावन मंजिल तक आत्मा को पहुँचाना है।

अन्त मे, मैं यही कहना चाहूंगा कि प्रत्येक आत्मा अपना विकास करने के लिये स्वतंत्र है। उसके विकास को अवरुद्ध करने वाली दुनिया मे कोई शक्ति नही और वह विकास भी पूर्ण विकास—जहाँ उसमे और परमात्मा मे कोई अन्तर विद्यमान नही रहता। भगवान् महावीर गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवती सूत्र मे फरमाते हैं—:

"हे गौतम! आस्तित्व रूप भावना और नास्तित्व रूप भावना क्रमशः आस्तित्व और नास्तित्व रूप मे जिस प्रकार मेरे अन्दर परिणत होती है, उसी प्रकार तुम्हारे अन्दर और सम्पूर्ण लोक की आत्माओं के अन्दर भी परिणत होती है। उनकी तुम्हारी और मेरी आतम-चेतना मे—आतम-शक्ति मे कोई भेद नही है।"

अत मनुष्य को अपने स्वरूप को समझ कर विवेक रखने की आवश्यकता है। संसार मे रहते हुए अध्यात्म ज्ञान संसार से भागना नही सिखाता। वह तो मानव को अनासक्ति योग की शिक्षा देता है। आत्म ज्ञानी भी खाते, पीते व सब कुछ करते हैं किन्तु उसमे आसक्ति का भाव नही होता और यही कारण है कि वे दुखों मे घबराते नही और सुखों मे लुब्ध

नही होते। सम्पत्ति और विपत्ति के अनुभूति से उनका मानस परे हो जाता है।

आध्यात्मज्ञानी 'जीओ और जीने दो'—के सिद्धान्त को केवल समझता ही नही, अपितु अपने जीवन मे उसका यथा-शक्य आचरण करता है। वह समझता है कि वह जैसा व्यव-हार दूसरो के प्रति करेगा, यदि वैसा ही व्यवहार उसके प्रति भी किया जाय तो उसकी अनुभूति कैसी होगी तथा उसी विचारणा के अनुसार वह अपनी सारी प्रवृत्तियाँ निर्धारित करता है।

इस प्रकार 'सोऽहम्' का स्पष्ट ज्ञान ही हमको मुक्ति के द्वार तक पहुँचा सकेगा और हमारे जीवन को तेजोमय व प्रकाशमय बना सकेगा।

——※※※——